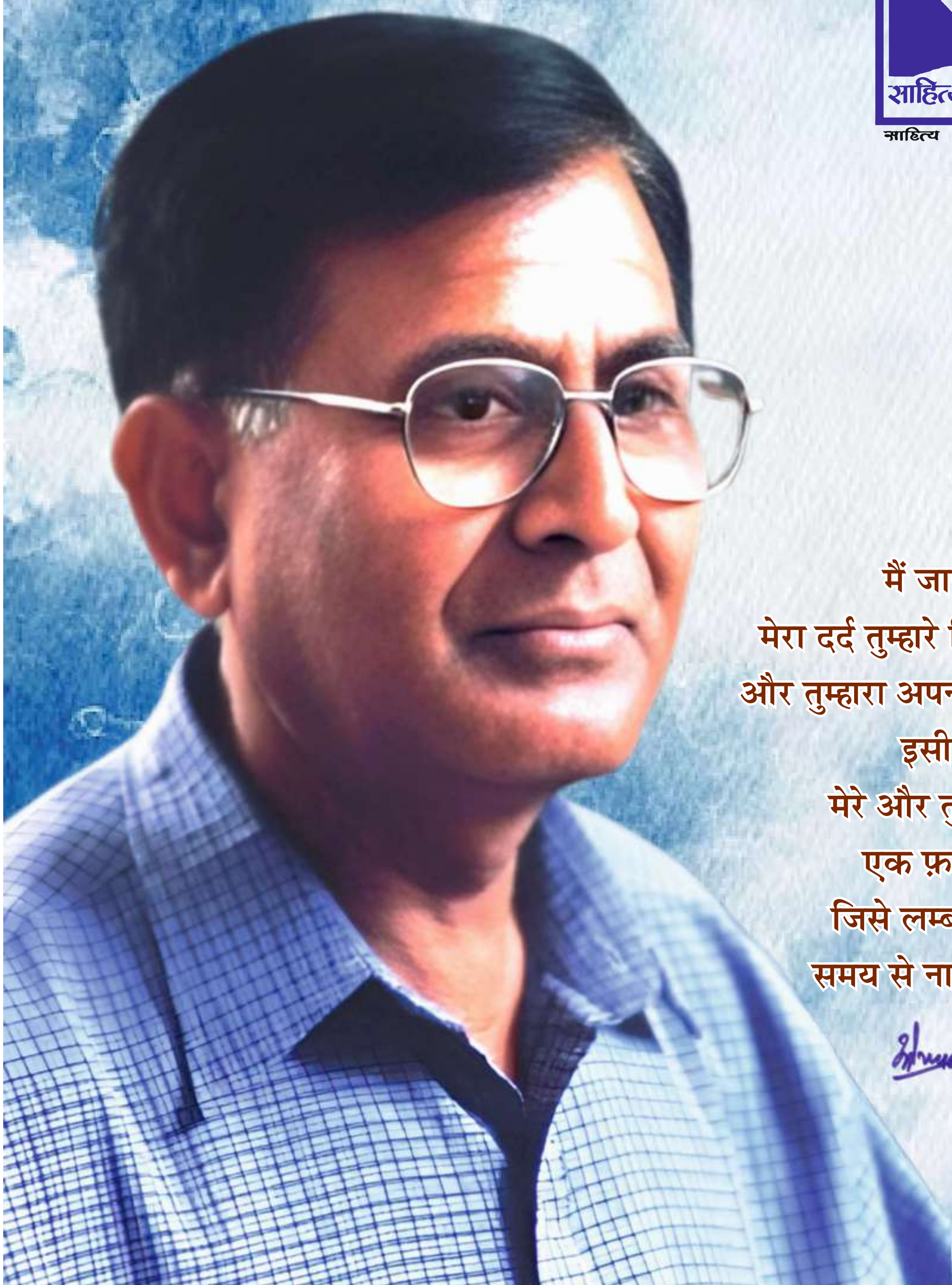
साहित्य चेतना मंच
साहित्य जन-जन तक



मैं जानता हूँ
मेरा दर्द तुम्हारे लिए चींटी जैसा
और तुम्हारा अपना दर्द पहाड़ जैसा
इसीलिए
मेरे और तुम्हारे बीच
एक फ़ासला है
जिसे लम्बाई से नहीं
समय से नापा जाएगा।

साहित्य चेतना मंच की रचनात्मक प्रस्तुति...

घर-घर ओमप्रकाश वाल्मीकि



स्मारिका

स्थापना वर्ष : 2020

हमारे स्वाभिमान के प्रतीक, सामाजिक विषमता के प्रबल विरोधी, क्रांतिकारी लेखक और दलित साहित्य के पुरोधा ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर साहित्य चेतना मंच की रचनात्मक प्रस्तुति

घर-घर ओमप्रकाश वाल्मीकि

–: चतुर्थ संशोधित संस्करण :–

14 अप्रैल, 2026, 1000 प्रतियाँ

(बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर की 135 वीं जयन्ती के अवसर पर)

प्रथम संस्करण - 30 जून, 2023, 500 प्रतियाँ

द्वितीय संस्करण - 17 नवंबर, 2023, 500 प्रतियाँ

तृतीय संस्करण - 14 अप्रैल, 2024, 1000 प्रतियाँ

सामाजिक और साहित्यिक जागृति हेतु निःशुल्क वितरण

–: प्रचार एवं प्रसार :–

साहित्य चेतना मंच, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश)

–: मुद्रक :– सृजन प्रिंटस्, सहारनपुर (उ.प्र.)

ओमप्रकाश वाल्मीकि पर केन्द्रित संपादित कृतियाँ

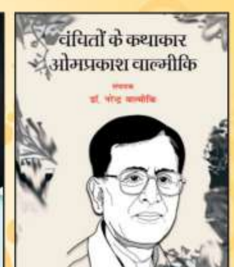


संपादक

डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि

डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि हिन्दी के वरिष्ठ दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य के संवेदनशील अध्येता एवं समर्पित संपादक हैं। उनकी संपादित चारों कृतियाँ दलित साहित्य की वैचारिक परंपरा को समझने के महत्त्वपूर्ण संदर्भ–ग्रंथ के रूप में स्थापित हो रही हैं।









संक्षिप्त परिचय



ओमप्रकाश वाल्मीकि

जन्मः– 30 जून, 1950, ग्राम बरला, जिला मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश)

शिक्षाः– एम.ए. (हिन्दी साहित्य, 1992), तकनीकी शिक्षा।

प्रकाशित कृतियाँः– कविता-संग्रहः– सदियों का संताप (1989), बस्स! बहुत हो चुका (1997), अब और नहीं (2009), शब्द झूठ नहीं बोलते (2012)। **आत्मकथाः**– जूठन– दो खंड में, अंग्रेजी, जर्मन, स्वीडिश, पंजाबी, तमिल, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, गुजराती, तेलगू में अनूदित एवं प्रकाशित। **कहानी-संग्रहः**– सलाम (2000), घुसपैठिए (2003), अम्मा एंड अदर स्टोरीज (2008), छतरी (2013), दस प्रतिनिधि कहानियाँ (2013)। **आलोचनाः**– दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (2001), मुख्यधारा और दलित साहित्य (2009), दलित साहित्य : अनुभव, संघर्ष और यथार्थ (2013)। **सामाजिक अध्ययनः**– सफाई देवता : 2008 (वाल्मीकि समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि)। **नाटकः**– दो चेहरे (2012)। **शोधः**– हिंदी दलित कविता और मराठी दलित कविता का तुलनात्मक अध्ययन और दलित आंदोलन पर उनका प्रभाव (2015) में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला द्वारा प्रकाशित।

अनुवादः– सायरन का शहर (अरुण काले) कविता संग्रह का मराठी से हिन्दी में अनुवाद, मैं हिन्दू क्यों नहीं (कांचा एलैया) की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद, आखिर क्या हुआ (लोकनाथ यशवन्त) कविता संग्रह का मराठी से हिन्दी में अनुवाद।

संपादनः– प्रज्ञा साहित्य (दलित साहित्य विशेषांक) मार्च-जून, 1995 (अतिथि संपादक), नागसेन पत्रिका का अतिथि संपादन, दलित हस्तक्षेप (रमणिका गुप्ता के दलित विषयक लेख) 2004, दलित दस्तक मासिक पत्रिका, दिसम्बर 2012 (अतिथि संपादक), कदम त्रैमासिक पत्रिका, अगस्त-अक्टूबर 2013 (अतिथि संपादक), तीसरा पक्ष त्रैमासिक पत्रिका के संस्थापक संपादक। अंगुत्तर त्रैमासिक पत्रिका की सलाहकार मंडल समिति के सदस्य। देहरादून से प्रकाशित "युगबोध पत्रिका" के संपादक।

अन्यः– लगभग 60 नाटकों में अभिनय एवं निर्देशन, विभिन्न नाट्य दलों द्वारा "दो चेहरे" का मंचन, "जूठन" के नाट्य रूपान्तरण का अनेक नगरों में मंचन, अनेक राष्ट्रीय सेमिनारों में हिस्सेदारी, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ में पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में अनेक व्याख्यान, अनेक विश्वविद्यालयों, शिक्षा बोर्ड,

एन.सी.ई.आर.टी. के पाठ्यक्रमों में रचनाएँ शामिल। सलाम कहानी पर दूरदर्शन द्वारा टेलीफिल्म का निर्माण। प्रथम हिन्दी दलित साहित्य सम्मेलन (1993) नागपुर के अध्यक्ष। अनुवाद के लिए वर्ष 2004 में साहित्य अकादमी, नई दिल्ली की पुरुस्कार चयन समिति के सदस्य। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा मुंशी प्रेमचंद की 125 वीं राष्ट्रीय जयंती समारोह समिति (2006) के सदस्य। केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा की पूर्वोत्तर भारतीय भाषाओं के लोक साहित्य के अनुवाद के लिए चयन समिति (2007) के सदस्य। हिंदी संस्थान, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) की पुरुस्कार समिति (2010) के सदस्य। 28वें अस्मितादर्श साहित्य सम्मेलन (2008) चन्द्रपुर, महाराष्ट्र के अध्यक्ष। संस्थापक सदस्यः अस्मिता अध्ययन केन्द्र, देहरादून (उत्तराखंड) और मेघदूत नाट्य संस्था (1974), भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला सोसाइटी में फेलो।

सम्मानः– डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार (1993), परिवेश सम्मान (1995), जयश्री सम्मान (1996), कथाक्रम सम्मान (2001), न्यू इंडिया बुक प्राइज, 2004 (एक लाख रुपये), 8वाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन (2007), न्यूयॉर्क, अमेरिका सम्मान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा "साहित्य भूषण सम्मान" 2008 (एक लाख रुपये), दलित साहित्य परिषद, लखनऊ (उ.प्र.) द्वारा "काव्य चक्र सम्मान" 2013

सम्पर्कः 'चन्द्रायन' 89, ईश्वर विहार, फेज-2, लाडपुर, देहरादून (उत्तराखण्ड)

निधनः– 17 नवम्बर, 2013



घर-घर ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मारिका - 2024 का लोकार्पण करते हुए सम्मानित अतिथिगण

लेख

ओमप्रकाश वाल्मीकि: व्यक्तित्व और कृतित्व

डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि

हिन्दी व दलित साहित्य के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, कवि, कथाकार, आलोचक, नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, एक्टिविस्ट आदि बहुमुखी प्रतिभा के धनी ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का जन्म 30 जून, 1950 को ग्राम बरला, जिला मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) में एक गरीब परिवार में हुआ था। ओमप्रकाश वाल्मीकि के पिता का नाम छोटन लाल व माता का नाम मुकन्दी देवी था। ओमप्रकाश वाल्मीकि का विवाह 23 वर्ष की आयु में 27 दिसम्बर, 1973 को चन्द्रकला उर्फ चंदर उर्फ चंदा से हुआ था। अपनी भाभी (स्वर्णलता) की छोटी बहन को अपनी मर्जी से आपने अपनी जीवन संगिनी के रूप में चुना था। उन्हें पत्नी के रूप में पाकर आप हमेशा खुश रहे। वाल्मीकि जी ने अपने घर का नाम भी अपनी पत्नी के नाम पर 'चन्द्रायन' रखा है। जो उनकी पत्नी से उनके अद्धभुत प्रेम को दर्शाता है। वाल्मीकि जी के यहाँ कोई सन्तान नहीं थी। जब आपसे कोई अनजाने में पूछ लेता तो, तब चन्दा जी बताती थी कि हमारे बच्चें एक, दो नहीं बहुत बड़ा परिवार हैं। हमारे जितने छात्र-छात्राएँ ओमप्रकाश वाल्मीकि जी को पढ़ रहें हैं, उन पर शोध कार्य कर रहें हैं। वे सब हमारे ही तो बच्चें हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी के कार्यो पर पूरे देश में सैकड़ों शोध छात्र-छात्राओं ने रिसर्च किया है। अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक ओमप्रकाश वाल्मीकि जी भी भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास शिमला में फैलो के रूप में शोध कार्य करते रहे थे। "हिंदी दलित कविता और मराठी दलित कविता का तुलनात्मक अध्ययन और दलित आंदोलन पर उनका प्रभाव" विषय पर आपके द्वारा किए गए शोध कार्य को वर्ष 2015 में आपके जाने के बाद संस्थान ने पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि का निधन देहरादून में लम्बे समय तक कैंसर से जूझते हुए 17 नवम्बर, 2013 को हुआ। ओमप्रकाश वाल्मीकि का जाना साहित्य जगत् के लिए भारी क्षति हैं। जिसकी पूर्ति कभी नहीं हो पाएगी। मात्र 63 वर्ष की आयु में वाल्मीकि जी हमारे बीच से विदा हो गए। वाल्मीकि जी अपने जीवन मे दो चार वर्ष और चाहते थे। ताकि वे लेखन के अपने कुछ अधूरे कार्य पूरे कर सके। अन्त तक वो कहते रहे कि दो तीन वर्ष शरीर साथ दे दे तो कुछ और महत्वपूर्ण कार्य कर जाऊँ, मगर ऐसा संभव नहीं हो सका।

दलित होने की पीड़ा को आपने बचपन से सहा है। जो जीवन भर साथ रही चाहे आप कहीं भी रहे, यही पीड़ा आपको लिखने के लिए प्रेरित करती रही। आपने हमेशा दलितों एवं पिछड़ों की मूलभूत समस्याओं पर लिखा है। वाल्मीकि जी ने नौकरी करते हुए अनेक स्थानों की यात्रा की, देहरादून से जबलपुर, फिर मुम्बई, चन्द्रपुर की यात्रा की। सरकारी ऑर्डिनेंस विभाग की अपनी नौकरी की ट्रेनिंग के लिए आप महाराष्ट्र गये। यहीं वाल्मीकि जी ने दलित आन्दोलन को बहुत करीब से देखा। यहाँ के दलित आन्दोलन के नेताओं और कार्यकर्ताओं के साथ जुड़कर आपने डॉ. भीमराव अम्बेडकर और उनके जीवन संघर्ष को समझा, यहीं से प्रेरणा लेकर दलित लेखन से जुड़ गये और महाराष्ट्र से लौटने के बाद वाल्मीकि जी अपने विचारों को लेखन के माध्यम से सम्पूर्ण भारत तक ले गये। वाल्मीकि जी ने अपनी आत्मकथा "जूठन" लिखकर दलित साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई। "जूठन" के द्वारा वाल्मीकि जी ने हिन्दी साहित्य में नई जमीन तोड़ी थी, जिसने अभिजात्यता और प्रभुता की जड़ों को खोदा, शुद्धता और शुचितावादी साहित्यकारो की नशों को हिलाया तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास और समाजशास्त्र को बदल कर रख दिया। जूठन के माध्यम से वाल्मीकि जी ने वाल्मीकि समाज की दुर्दशा की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया। मनुष्यों के समाज में वाल्मीकि समाज यानी (सफाई कामगार समुदाय) किस प्रकार अमानवीय जीवन जीने के लिए विवश है। जूठन के प्रकाशित होने के बाद उस पर चर्चा ने जो प्रभाव छोड़ा वह अद्‌भुत था। जूठन ने कई दलित साहित्यकारों को आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित किया। वाल्मीकि की आत्मकथा हिन्दी दलित आत्मकथाओ में सर्वश्रेष्ठ मानी गई। जिसका अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं मे जैसे- पंजाबी, बंगाली, तेलगू, गुजराती, ऊर्दू, मराठी, तमिल, उड़िया, मलयालम, कन्नड आदि तथा विदेशी भाषा जैसे- अंग्रेजी, फ्रेंच, स्वीडिश आदि में हुआ। इससे ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा बहुत प्रसिद्ध बन गई। जूठन को अनेक विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पढ़ाया जा रहा है। जूठन के अतिरिक्त भी वाल्मीकि जी की कई कविताएँ व कहानियाँ भी अत्यन्त चर्चित हुई जिनमें घुसपैठियें, छतरी, अम्मा, सलाम, पच्चीस चौका डेड सौ और बिरम की बहु व अन्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। वाल्मीकि का पहला कविता संग्रह 'सदियों का सन्ताप' (1989) में छपा इसके बाद 'बस्स ! बहुत हो चुका' (1997) में छपा। 'अब और नहीं' और 'शब्द झूठ नहीं बोलते' क्रमश: 2009 व 2012 में छपें। इस तरह वाल्मीकि जी के चार कविता संग्रह छपें हैं। वाल्मीकि ने सायरन का शहर (अरुण काले) कविता संग्रह का मराठी से हिन्दी, मैं हिन्दू क्यों नहीं (कांचा एलैया) की अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी में और आखिर क्या हुआ (लोकनाथ यशवन्त) कविता संग्रह का मराठी से हिन्दी में अनुवाद

किया। 'सदियों का संताप' कविता संग्रह में संकलित 'ठाकुर का कुआं' बहुत ही मार्मिक और कालजयी कविता है। इसमें ग्रामीण परिवेश में होने वाले शोषण को उजागर किया गया है। जो इस प्रकार से है–

चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का
भूख रोटी की
रोटी बाजरे की
बाजरा खेत का
खेत ठाकुर का
बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूठ पर हथेली अपनी
फसल ठाकुर की
कुआँ ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत खलिहान ठाकुर का
फिर अपना क्या?
गाँव? शहर? देश?



ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने वाल्मीकि समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि को 'सफाई देवता' नामक अपनी पुस्तक में संजोकर समाज के सामने पेश किया। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने वैचारिक पुस्तकें भी लिखीं जिनमें तीन प्रमुख थी। 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', 'दलित साहित्यः अनुभव, संघर्ष और यथार्थ' और 'मुख्यधारा व दलित साहित्य' में वाल्मीकि जी ने कई मुद्दे उठायें हैं। जैसे कि मेरे लिखने का कारण, मेरी रचना प्रक्रिया, मुख्याधारा के यथार्थ, दलित चेतना और हिन्दी कथा साहित्य आदि। देश की जानी-मानी कई पत्रिकाओ में जैसे प्रज्ञा साहित्य (दलित साहित्य विशेषांक) मार्च-जून, 1995, दलित हस्तक्षेप (रमणिका गुप्ता के दलित विषयक लेख) 2004, दलित दस्तक मासिक पत्रिका, दिसम्बर 2012, कदम त्रैमासिक पत्रिका, अगस्त-अक्टूबर 2013 आदि का वाल्मीकि जी ने अतिथि सम्पादन किया। आपने तीसरा पक्ष त्रैमासिक पत्रिका के संस्थापक संपादक के रूप में अपना दायित्व निभाया और वर्ष 1988 में 'युगबोध' नाम की पत्रिका का सम्पादन किया था। यह अ.जा.

कर्मचारी वेलफेयर एसोसिएशन, ऑर्डिनेंस फैक्टरी, देहरादून की पत्रिका थी। इसका पहला अंक मई, 1988 में प्रकाशित हुआ था।

वाल्मीकि जी के लेखन की विशेषता यह थी कि वह दलित और गैर दलित सभी वर्गों के द्वारा पढ़े जाते थे। वाल्मीकि जी का लेखन अम्बेडकरवाद को हमेशा आगे लेकर चला। वे कहते रहे कि बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर को पढ़े बिना कोई दलित साहित्य के बारे में नहीं लिख सकता। उनके कार्यों के मूल्यांकन के स्वरूप उन्हें अनेकों पुरस्कारों से सम्मानित किया गया हैं– डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार (1993), परिवेश सम्मान (1995), जयश्री सम्मान (1996), कथाक्रम सम्मान (2001), न्यू इंडिया बुक प्राइज, 2004 (एक लाख रुपये), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा 'साहित्य भूषण सम्मान' (2006), 8वाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन (2007) न्यूयॉर्क, अमेरिका सम्मान। जीवन के अन्तिम वर्ष 2013 में हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ और दलित साहित्य परिषद, लखनऊ (उ.प्र.) ने ओमप्रकाश वाल्मीकि जी को 'काव्य चक्र सम्मान 2013' से सम्मानित किया। वाल्मीकि जी ने अन्तिम दिनों में कैलाश चन्द चौहान के उपन्यास 'भंवर' का अभिमत लिखा था। वाल्मीकि जी ने जातिवाद पर कठोर कटाक्ष किए। उन्होंने लिखा–

स्वीकार्य नहीं मुझे जाना
मृत्यु के बाद
तुम्हारे स्वर्ग में
वहाँ भी तुम पहचानोगे
मुझे मेरी जाति से ही

और आगे कहा 'न जाने किस ने तुम्हारे गले में डाल दिया जाति का फंदा, जो न तुम्हें जीने देता है, न हमें'। वर्ष 2013 मे उनका अन्तिम आलोचना ग्रन्थ दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ प्रकाशित हुआ। किताब के पहले खण्ड के प्रथम अध्याय के आखिर में उन्होंने लिखा है "जाति की यह भावना समाज में इतनी गहरी है कि दलित भी इससे अछूते नहीं है दलितों में भी एक ऐसा वर्ग है। जो इससे मुक्त नहीं होना चाहता है।" उनका जातिवाद के प्रति यह अन्तर्द्वन्द्व उस वक्त खुलकर सामने आया जब उनकी एक कहानी 'शवयात्रा' (इंडिया टुडे, 22 जुलाई, 1998) में प्रकाशित हुई। ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का अंतिम साक्षात्कार हीरालाल राजस्थानी द्वारा लिया गया। उसमें वे एक प्रश्न पूछते हैं जिसका जिक्र करना यहाँ मैं जरूरी समझता हूँ। हीरालाल जी पूछते है कि–"जिस सफाई के काम की वजह से ये छुआछूत का दंश झेलना पड़ता है। तो आप मानते है कि यह काम छोड़ देना चाहिए?" ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने उत्तर दिया कि –"ओके मानता हूँ, छोड़

देना चाहिए, लेकिन उसका कुछ अल्टरनेट तो दो, उनको भूखे मरने के लिए क्यों छोड़ रहे हो ? उनके पास करने के लिए दूसरा काम कुछ भी नहीं हैं। पहले कुछ काम तो देना होगा और काम देने का दायित्व राज्य सरकार का है। सरकार उनके पुनवर्सन की व्यवस्था तो करे अन्यथा तो वे भूखे मर जायेंगे, हो सकता है कि कुछ लोग मेरी बात से सहमत न हो लेकिन मेरा ये कहना है कि जब उनके पास वैकल्पिक आधार न हो, अपनी जीविका को चलाने का तो वह अपना काम कैसे छोड़ सकते है ? जब दूसरा काम करने भी जाते है तो ये कहा जाता है कि आपकी जाति का काम तो सफाई कार्य करना है। वो करो ऐसी तानाकसी की जाती है। ऊँचे पदों पर होते हुए भी ऐसे वाक्य सुनने को मिलते हैं। एक दबाव बनाया जाता हैं।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि जी से मेरा परिचय भी एक अलग ही इत्तेफाक है। वर्ष 2012-13 में, मैं चौ. चरण सिहं विश्वविद्यालय, मेरठ में छात्र संघ का चुनाव लड़ रहा था। चुनाव प्रचार के लिए हमने अपने नाम के होर्डिंग्स विश्वविद्यालय के मुख्यद्वार पर लगाये थे। वही मुख्यद्वार के सामने एक पुस्तक विक्रेता हर शनिवार को बुक स्टाल लगाता है। एक दिन मैं मुख्यद्वार से गुजर रहा था, पुस्तक विक्रेता ने मुझे आवाज दी, वाल्मीकि जी आपके लिए आज विशेष पुस्तक है, जो आपको जरूर पढ़नी चाहिए। ये अलग बात है कि उन्होंने पुस्तक बेचने के लिए ऐसा कहा था या फिर वो वास्तव में मुझे वाल्मीकि जी के बारे मे परिचित कराना चाहते थे? उन्होने मुझे कहा कि आपने ओमप्रकाश वाल्मीकि को पढ़ा, मैंने कहा, नहीं। फिर उन्होंने वाल्मीकि जी के बारे मे बताया तब पहली बार मुझे सन् 2012 में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी के बारे मे मालूम हुआ। उन्होंने मुझे जूठन पढ़ने के लिए कहा। मैं, उनसे जूठन खरीद लाया, पूरी आत्मकथा एक सीटिंग में पढ़ गया। जूठन पूरी पढ़ने के बाद वाल्मीकि जी से बात की, अपने बारे में बताया और उनकी पुस्तक जूठन के बारे मे उनसे चर्चा की। ऐसे मेरा परिचय वाल्मीकि जी से हुआ। जिनसे लगातार बात होती रही। मैं उनसे कभी मिल नहीं पाया इसका मुझे जीवन भर मलाल रहेगा। जबकि वाल्मीकि जी ने मुझे कई बार मिलने के लिए बुलाया। अनेकों कारणों से मैं जा न सका। उन्होंने मेरा नाम सुनकर कहा था, आपने अपने नाम के पीछे वाल्मीकि लगाया है। ये बहुत ही अच्छा किया जो हो सबके सामने मजबूती से रखो।

अपने साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने कई पात्र सर्जित किये जो दलित समाज की आशा-विश्वास व संघर्ष के प्रतीक है। जूठन से वाल्मीकि जी ने विश्वस्तर पर पहचान व ख्याति प्राप्त कीं। हिन्दी दलित साहित्यकारों में आप सबसे वरिष्ठ और सम्माननीय हो, आपकी स्मृति, आपके प्रति सम्मान हमेशा हमारे दिलों मे रहेगा, हम आपको भूला नहीं पायेंगे। ❑

जोहड़ी के किनारे पर चूहड़ों के मकान

(ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन का एक अंश)

हमारा घर चंद्रभान तगा के घेर से सटा हुआ था। उसके बाद कुछ परिवार मुसलमान जुलाहों के थे। चंद्रभान तगा के घेर के ठीक सामने एक छोटी-सी जोहड़ी (जोहड़ का स्त्रीलिंग) थी, जिसने चूहड़ों के बगड़ और गाँव के बीच एक फासला बना दिया था। जोहड़ी का नाम डब्बोवाली था। डब्बोवाली नाम कैसे पड़ा, कहना मुश्किल है। हाँ, इतना जरूर है कि इस डब्बोवाली जोहड़ी का रूप एक बड़े गढ्ढे के समान था, जिसके एक ओर तगाओं के पक्के मकानों की ऊँची दीवारें थीं। जिनसे समकोण बनाती हुई झींवरों के दो-तीन परिवारों के कच्चे मकानों की दीवारें थीं। उसके बाद फिर तगाओं के मकान थे।

जोहड़ी के किनारे पर चूहड़ों के मकान थे, जिनके पीछे गाँव भर की औरतें, जवान लड़कियाँ, बड़ी-बूढ़ी यहाँ तक कि नई नवेली दुल्हनें भी इसी डब्बोवाली के किनारे खुले में टट्टी-फरागत के लिए बैठ जाती थीं। रात के अँधेरे में ही नहीं, दिन के उजाले में भी पर्दों में रहने वाली त्यागी महिलाएँ घूँघटे काढ़े, दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती थीं। तमाम शर्म-लिहाज छोड़कर वे डब्बोवाली के किनारे गोपनीय जिस्म उघाड़कर बैठ जाती थीं। इसी जगह गाँव भर के लड़ाई-झगड़े गोलमेज कॉन्फ्रेंस की शक्ल में चर्चित होते थे। चारों तरफ गंदगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गंध कि मिनट भर में साँस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग-धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े। बस, यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण-व्यवस्था को आदर्श-व्यवस्था कहने वालों को दो-चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जाएगी।

उसी बगड़ में हमारा परिवार रहता था। पाँच भाई, एक बहन, दो चाचा, एक ताऊ का परिवार। चाचा और ताऊ अलग रहते थे। घर में सभी कोई न कोई काम करते थे। फिर भी दो जून की रोटी ठीक ढंग से नहीं चल पाती थी। तगाओं के घरों में साफ-सफाई से लेकर, खेती-बाड़ी, मेहनत-मजदूरी सभी काम होते थे। ऊपर से रात-बेरात बेगार करनी पड़ती। बेगार के बदले में कोई पैसा या अनाज नहीं मिलता था। बेगार के लिए ना कहने की हिम्मत किसी में नहीं थीं। गाली-गलौज, प्रताड़ना अलग। नाम लेकर पुकारने की किसी को आदत नहीं थी। उम्र में बड़ा हो तो 'ओ चूहड़े', बराबर या उम्र में छोटा है तो 'अबे चूहड़े के' यही तरीका या संबोधन था।

अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि कुत्ते-बिल्ली, गाय-भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन यदि चूहड़े का स्पर्श हो जाए तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ जरूरत की वस्तु थे। काम पूरा होते ही उपयोग खत्म। इस्तेमाल करो, दूर

फेंको।

हमारे मोहल्ले में एक ईसाई आते थे। नाम था सेवकराम मसीही। चूहड़ों के बच्चों को घेरकर बैठे रहते थे। पढ़ना-लिखना सिखाते थे। सरकारी स्कूलों में तो कोई घुसने नहीं देता था। सेवकराम मसीही के पास सिर्फ मुझे ही भेजा गया था। भाई तो काम करते थे। बहन को स्कूल भेजने का सवाल ही नहीं था।

मास्टर सेवकराम मसीही के खुले, बिना कमरों, बिना टाट-चटाईवाले स्कूल में अक्षर ज्ञान शुरू किया था। एक दिन सेवकराम मसीही और मेरे पिताजी में कुछ खटपट हो गई थी। पिताजी मुझे लेकर बेसिक प्राइमरी विद्यालय गए थे जो कक्षा पाँच तक था। वहाँ मास्टर हरफूल सिंह थे। उनके सामने मेरे पिताजी ने गिड़गिड़ाकर कहा था, ''मास्टर जी, थारी मेहरबान्नी हो जागी जो म्हारे इस जाकत (बच्चा) कू बी दो अक्षर सिखा दोगे।''

मास्टर हरफूल सिंह ने अगले दिन आने को कहा था। पिताजी अगले रोज फिर गए। कई दिन तक स्कूल के चक्कर काटते रहे। आखिर एक रोज स्कूल में दाखिला मिल गया। उन दिनों देश को आजादी मिले आठ साल हो गए थे। गाँधी जी के अछूतोद्धार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी। सरकारी स्कूलों के द्वार अछूतों के लिए खुलने शुरू तो हो गए थे, लेकिन जनसामान्य की मानसिकता में कोई विशेष बदलाव नहीं आया था। स्कूल में दूसरों से दूर बैठना पड़ता था, वह भी जमीन पर। अपने बैठने की जगह तक आते-आते चटाई छोटी पड़ जाती थी। कभी-कभी तो एकदम पीछे दरवाजे के पास बैठना पड़ता था। जहाँ से बोर्ड पर लिखे अक्षर धुँधले दिखते थे।

त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े का' कहकर चिढ़ाते थे। कभी-कभी बिना कारण पिटाई भी कर देते थे। एक अजीब-सी यातनापूर्ण जिंदगी थी, जिसने मुझे अंतर्मुखी और चिड़चिड़ा, तुनकमिजाजी बना दिया था। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपंप के पास खड़े रहकर किसी के आने का इंतजार करना पड़ता था। हैंडपंप छूने पर बवेला हो जाता था। लड़के तो पीटते ही थे। मास्टर लोग भी हैंडपंप छूने पर सजा देते थे। तरह-तरह के हथकंडे अपनाए जाते थे ताकि मैं स्कूल छोड़कर भाग जाऊँ, और मैं भी उन्हीं कामों में लग जाऊँ, जिनके लिए मेरा जन्म हुआ था। उनके अनुसार, स्कूल आना मेरी अनधिकार चेष्टा थी।

मेरी ही कक्षा में राम सिंह और सुक्खन सिंह भी थे। राम सिंह जाति से चमार था और सुक्खन सिंह झींवर। राम सिंह के पिताजी और माँ खेतों से मजदूरी करते थे। सुक्खन सिंह के पिताजी इंटर कॉलेज में चपरासी थे। हम तीनों साथ-साथ पढ़े, बड़े हुए, बचपन के खट्टे-मीठे अनुभव समेटे थे। तीनों पढ़ने में हमेशा आगे रहे। लेकिन जाति का छोटापन कदम-कदम पर छलता रहा।

बरला गाँव में कुछ मुसलमान त्यागी भी थे। त्यागियों को भी तगा कहते थे।

मुसलमान तगाओं का व्यवहार भी हिंदुओं जैसा ही था। कभी कोई अच्छा साफ–सुथरा कपड़ा पहनकर यदि निकलें तो फब्तियाँ सुननी पड़ती थीं। ऐसी फब्तियाँ जो बुझे तीर की तरह भीतर तक उतर जाती थीं। ऐसा हमेशा होता था। साफ–सुथरे कपड़े पहनकर कक्षा में जाओ तो साथ के लड़के कहते, ''अबे चूहड़े का, नए कपड़े पहनकर आया है।'' मैले–पुराने कपड़े पहनकर स्कूल जाओ तो कहते, ''अबे चूहड़े के, दूर हट, बदबू आ रही है।'' अजीब हालात थे। दोनों ही स्थितियों में अपमानित होना पड़ता था। चौथी कक्षा में थे। हेडमास्टर बिशम्बर सिंह की जगह कलीराम आ गए थे। उनके साथ एक और मास्टर आए थे। उनके आते ही हम तीनों के बहुत बुरे दिन आ गए थे। बात–बेबात पर पिटाई हो जाती थी। राम सिंह तो कभी–कभी बच भी जाता था, लेकिन सुक्खन सिंह और मेरी पिटाई तो आम बात थी। मैं वैसे भी काफी कमजोर और दुबला–पतला था उन दिनों।

सुक्खन के पेट पर पसलियों के ठीक ऊपर एक फोड़ा हो गया था, जिससे हर वक्त पीप बहती रहती थी। कक्षा में वह अपनी कमीज ऊपर की तरफ इस तरह मोड़कर रखता था, ताकि फोड़ा खुला रहे। एक तो कमीज पर पीप लगने का डर था, दूसरे मास्टर की पिटाई के समय फोड़े को बचाया जा सकता था।

एक दिन मास्टर ने सुक्खन सिंह को पीटते समय उस फोड़े पर ही एक घूँसा जड़ दिया। सुक्खन की दर्दनाक चीख निकली। फोड़ा फट गया था। उसे तड़पता देखकर मुझे भी रोना आ गया था। मास्टर हम लोगों को रोता देखकर लगातार गालियाँ बक रहा था। ऐसी गालियाँ जिन्हें यदि शब्दबद्ध कर दूँ तो हिंदी की अभिजात्यता पर धब्बा लग जाएगा। क्योंकि मेरी एक कहानी 'बैल की खाल' में एक पात्र के मुँह से गाली दिलवा देने पर हिंदी के कई बड़े लेखकों ने नाक–भौं सिकोड़ी थी। संयोग से गाली देनेवाला पात्र ब्राह्मण था। ब्राह्मण यानी ब्रह्म का ज्ञाता और गाली... !

अध्यापको का आदर्श रूप जो मैंने देखा वह अभी तक मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ–बहन की गालियाँ देते थे। सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे।

एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर पूछा, ''क्या नाम है बे तेरा ?''

''ओमप्रकाश,'' मैंने डरते–डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया। हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी।

''चूहड़े का है ?'' हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

''जी।''

''ठीक है वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ

तोड़ के झाड़ू बणा ले। पत्तों वाली झाड़ू बणाना। और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा...फटाफट लग जा काम पे।''

हेडमास्टर के आदेश पर मैंने स्कूल के कमरे, बरामदे साफ कर दिए। तभी वे खुद चलकर आए और बोले, ''इसके बाद मैदान भी साफ कर दे।''

लंबा-चौड़ा मैदान मेरे वजूद से कई गुना बड़ा था, जिसे साफ करने से मेरी कमर दर्द करने लगी थी। धूल से चेहरा-सिर अंट गया था। मुँह के भीतर धूल घुस गई थी। मेरी कक्षा में बाकी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाड़ू लगा रहा था। हेडमास्टर अपने कमरे में बैठे थे लेकिन निगाह मुझ पर टिकी थी। पानी पीने तक की इजाजत नहीं थी। पूरा दिन मैं झाड़ू लगाता रहा। तमाम अनुभवों के बीच कभी इतना काम नहीं किया था। वैसे भी घर में भाइयों का मैं लाडला था।

दूसरे दिन स्कूल पहुँचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाडू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाडू देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा।

तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, ''अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया...अपनी माँ...''

उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर-थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, ''मास्साहब, वो बैठ्ठा है कोणे में।''

हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, ''जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू... नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ़ (निकाल) दूँगा।''

भयभीत होकर मैंने तीन दिन पुरानी वही शीशम की झाड़ू उठा ली। मेरी तरह ही उसके पत्ते सूखकर झरने लगे थे। सिर्फ बची थीं पतली-पतली टहनियाँ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे थे। रोते-रोते मैदान में झाड़ू लगाने लगा। स्कूल के कमरों की खिड़की, दरवाजों से मास्टरों और लड़कों की आँखें छिपकर तमाशा देख रही थीं। मेरा रोम-रोम यातना की गहरी खाई में लगातार गिर रहा था।

मेरे पिताजी अचानक स्कूल के पास से गुजरे। मुझे स्कूल के मैदान में झाड़ू लगाता देखकर ठिठक गए। बाहर से ही आवाज देकर बोले, ''मुंशी जी, यो क्या कर रा है?'' वे प्यार से मुझे मुंशी जी ही कहा करते थे। उन्हें देखकर मैं फफक पड़ा। वे स्कूल के मैदान में मेरे पास आ गए। मुझे रोता देखकर बोले, ''मुंशी जी... रोते क्यों हो? ठीक से बोल, क्या हुआ है?''

मेरी हिचकियाँ बँध गई थीं। हिचक-हिचककर पूरी बात पिताजी को बता दी कि तीन दिन से रोज झाड़ू लगवा रहे हैं। कक्षा में पढ़ने भी नहीं देते।

पिताजी ने मेरे हाथ से झाड़ू छीनकर दूर फेंक दी। उनकी आँखों में आग की गर्मी उतर आई थी। हमेशा दूसरों के सामने तीर-कमान बने रहने वाले पिताजी की लंबी-लंबी घनी मूँछें गुस्से में फड़फड़ाने लगी थीं। चीखने लगे, ''कौण-सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावे हैं...''

पिताजी की आवाज पूरे स्कूल में गूँज गई थी, जिसे सुनकर हेडमास्टर के साथ सभी मास्टर बाहर आ गए थे। कलीराम हेडमास्टर ने गाली देकर मेरे पिताजी को धमकाया। लेकिन पिताजी पर धमकी का कोई असर नहीं हुआ। उस रोज जिस साहस और हौसले से पिताजी ने हेडमास्टर का सामना किया, मैं उसे कभी भूल नहीं पाया। कई तरह की कमजोरियाँ थी पिताजी में लेकिन मेरे भविष्य को जो मोड़ उस रोज उन्होंने दिया, उसका प्रभाव मेरी शख्सियत पर पड़ा।

हेडमास्टर ने तेज आवाज में कहा था, ''ले जा इसे यहाँ से...चूहड़ा होके पढ़ने चला है...जा चला जा...नहीं तो हाड़-गोड़ तुड़वा दूँगा।''

पिताजी ने मेरा हाथ पकड़ा और लेकर घर की तरफ चल दिए। जाते-जाते हेडमास्टर को सुनाकर बोले, ''मास्टर हो... इसलिए जा रहा हूँ... पर इतना याद रखिए मास्टर...यो चूहड़े का यहीं पढ़ेगा...इसी मदरसे में। और यो ही नहीं, इसके बाद और भी आवेंगे पढ़ने कू।''

पिताजी को विश्वास था, गाँव के त्यागी मास्टर कलीराम की इस हरकत पर उसे शर्मिंदा करेंगे। लेकिन हुआ ठीक उल्टा। जिसका दरवाजा खटखटाया यही उत्तर मिला, ''क्या करोगे स्कूल भेजके'' या ''कौवा बी कबी हंस बण सके'', ''तुम अनपढ़ गँवार लोग क्या जाणो, विद्या ऐसे हासिल ना होती।'', अरे! चूहड़े के जाकत कू झाड़ू लगाने कू कह दिया तो कोण-सा जुल्म हो गया'', ''या फिर झाड़ू ही तो लगवाई है, द्रोणाचार्य की तरियों गुरु-दक्षिणा में अँगूठा तो नहीं माँगा'' आदि-आदि।

पिताजी थक-हार कर निराश लौट आए, बिना खाए-पिए रात भर बैठे रहे। पता नहीं किस गहन पीड़ा को भोग रहे थे मेरे पिताजी। सुबह होते ही उन्होंने मुझे साथ लिया और प्रधान सगवा सिंह त्यागी की बैठक में पहुँच गए।

पिताजी को देखते ही प्रधान बोले, ''अबे, छोटन...क्या बात है? तड़के ही तड़के आ लिया!''

''चौधरी साहब, तम तो कहो ते सरकार ने चूहड़े-चमारों के जाकतों (बच्चों) के लिए मदरसों के दरवाजे खोल दिए हैं। और यहाँ वो हेडमास्टर मेरे इस जाकत कू पढ़ाने के बजाए क्लास से बाहर लाके दिन भर झाड़ू लगवावे है। जिब यो दिन भर मदरसे में झाड़ू लगावेगा तो इब तम ही बताओ पढ़ेगा कब?'' पिताजी प्रधान के सामने गिड़गिड़ा रहे थे। उनकी आँखों में आँसू थे। मैं पास खड़ा पिताजी को देख रहा था।

प्रधान ने मुझे अपने पास बुलाकर पूछा, ''कोण-सी किलास में पढ़े है ?''

''जी चौथी में।''

''म्हारे महेन्द्र की किलास में ही हो ?''

''जी।''

प्रधान जी ने पिताजी से कहा, ''फिकर ना कर, कल मदरसे में इसे भेज देणा।'' अगले रोज डरते-डरते मैं स्कूल पहुँचा, डरा-डरा कक्षा में बैठा रहा, हर क्षण लगता था अब आया हेडमास्टर...अब आया। जरा-सी आहट पर दिल घबराने लगता था। उसके बाद स्थिति सामान्य हो गई थी। लेकिन कलीराम हेडमास्टर को देखते ही मेरी रूह काँप जाती थी। लगता, जैसे सामने से मास्टर नहीं कोई जंगली सूअर थूथनी उठा, चिंचिंयाता चला आ रहा है।

गेहूँ की फसल कटने के वक्त मोहल्ले के सभी लोग तगाओं के खेतों में गेहूँ काटने जाते थे। तपती दोपहरी में गेहूँ काटना बहुत कष्टप्रद और कठिन होता है। सिर पर बरसती धूप। नीचे तपती जमीन, नंगे पाँव में कटे पौधों की जड़ें शूल की तरह तलवों में चुभती थीं। उनसे भी ज्यादा चुभन होती थी सरसों और चने की जड़ों से। चना काटने में एक कठिनाई और थी। चने के पत्तों पर खटाई होती है जो काटते समय पूरे शरीर पर चिपक जाती है। नहाने पर भी कम नहीं होती। कटाई करनेवाले अधिकतर चूहड़े या चमार ही होते थे, जिनके तन-पर कपड़े सिर्फ नाम भर के होते थे। पाँव में जूता होने का तो सवाल ही नहीं होता था। नगें पाँव फसल कटने तक बुरी तरह घायल हो जाते थे।

फसल-कटाई को लेकर अक्सर खेतों में हुज्जत चलती रहती थी। मजदूरी देने में ज्यादातर तगा कंजूसी बरतते थे। काटने वालों की मजबूरी थी। जो भी मिलता, थोड़ी बहुत ना-नुकर के बाद लेकर घर लौट आते। घर आकर कुढ़ते रहते या तगाओं को कोसते रहते। लेकिन भूख के सामने विरोध दम तोड़ देता था। हर साल फसल कटाई को लेकर मोहल्ले में बैठकें होतीं। सोलह पूली पर एक पूली मेहनताना लेने की कसमें खाई जातीं। लेकिन कटाई शुरू होते ही बैठकों के तमाम फैसले, कसमें हवा हो जाते थे। इक्कीस पूली पर एक पूली मजदूरी मिलती थी। एक पूली में एक किलो से भी कम गेहूँ निकलता था। भारी से भारी पूली में एक किलो गेहूँ नही निकलता था। यानी दिन भर की मजदूरी एक किलो गेहूँ से भी कम। कटाई के बाद बैलगाड़ी या झोटा बुग्गी (भैंसा बुग्गी) में लदाई-उतराई अलग। उसका कोई पैसा या अनाज नहीं मिलता था। देर-सबेर खलिहानों में बैल हाँकने की बेगार सभी को करनी पड़ती थी। उन दिनों गेहूँ सफाई के 'थ्रेशर' नहीं हुआ करते थे। बैलों को गोलाई में घुमा-घुमाकर गेहूँ के पौधों को भूसे की शक्ल में बदला जाता था। फिर भूसे से गेहूँ छाज से हवा में उड़ाकर अलग किए जाते थे। यह एक काफी लंबा और थका देने वाला काम था, जिसे अधिकतर चमार या चूहड़े ही करते थे।

मेरी माँ इन सब मेहनत-मजदूरियों के साथ-साथ आठ-दस तगाओं (हिंदू, मुसलमान) के घर तथा घेर (मर्दों का बैठकखाना तथा मवेशियों को बाँधने की जगह) में साफ-सफाई का काम करती थी। इस काम में मेरी बहन, बड़ी भाभी तथा जसबीर और जनेसर (दो भाई) माँ का हाथ बँटाते थे। बड़ा भाई सुखबीर तगाओं के यहाँ वार्षिक नौकर की तरह काम करता था।

प्रत्येक तगा के घेर में दस से पंद्रह मवेशी (गाय, भैंस और बैल) सामान्य बात थी। उनका गोबर उठाकर गाँव से बाहर कुरड़ियों पर या उपले बनाने की जगह डालना पड़ता था। प्रत्येक घेर से रोज पाँच-छह टोकरे गोबर निकलता था। सर्दी के महीनों में यह काम बहुत कष्टदायक होता था। गाय, भैंस और बैलों को सर्दी से बचाने के लिए बड़े-बड़े दालानों में बाँधा जाता था, जिनमें गन्ने की सूखी पाती या फूस बिछा होता था। रात भर जानवरों का गोबर और मूत्र पूरे दालान में फैल जाता था। दस-पंद्रह दिनों में एक बार पाती बदली जाती थी या उसके ऊपर सूखी पाती बिछा दी जाती थी। इतने दिनों में दालानों में भरी दुर्गंध से गोबर ढूँढ़-ढूँढ़ के निकालना बहुत तकलीफदेह होता था, दुर्गंध से सिर भिन्ना जाता था।

इन सब कामों के बदले मिलता था दो जानवर पीछे फसल के समय पाँच सेर अनाज यानी लगभग ढ़ाई किलो अनाज। दस मवेशी वाले घर से साल भर में 25 सेर (लगभग 12-13 किलो) अनाज, दोपहर को प्रत्येक घर से एक बची-खुची रोटी, जो खास तौर पर चूहड़ों को देने के लिए आटे में भूसी मिलाकर बनाई जाती थी। कभी-कभी जूठन भी भंगन की टोकरी में डाल दी जाती थी।

शादी-ब्याह के मौकों पर, जब मेहमान या बाराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजों के बाहर बड़े-बड़े टोकरे लेकर बैठे रहते थे। बारात के खाना खा चुकने पर झूठी पत्तलें उन टोकरों में डाल दी जाती थीं, जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे। पूरी के बचे-खुचे टुकड़े, एक आध मिठाई का टुकड़ा या थोड़ी बहुत सब्जी पत्तल पर पाकर बाछें खिल जाती थीं। जूठन चटखारे लेकर खाई जाती थी। जिस बारात की पत्तलों से जूठन कम उतरती थी कहा जाता था कि भुक्खड़ (भूखे) लोग आ गए हैं बारात में जिन्हें कभी खाने को कुछ नहीं मिला। सारा चट कर गए। अक्सर ऐसे मौकों पर बड़े-बूढ़े ऐसी बारातों का जिक्र बहुत ही रोमांचक लहजे में सुनाया करते थे कि उस बारात से इतनी जूठन आई थी कि महीनों तक खाते रहे थे।

पत्तलों से जो पूरियों के टुकड़े एकत्र होते थे उन्हें धूप में सुखा लिया जाता था। चारपाई पर कोई कपड़ा डालकर उन्हें फैला दिया जाता था। अक्सर मुझे पहरे पर बैठाया जाता था। क्योंकि सूखनेवाली पूरियों पर कव्वे, मुर्गियाँ, कुत्ते अक्सर टूट पड़ते थे। जरा-सी आँख बची कि पूरियाँ साफ, इसलिए डंडा लेकर चारपाई के पास बैठना पड़ता

था।

ये सूखी पूरियाँ बरसात के कठिन दिनों में बहुत काम आती थीं। इन्हें पानी में भिगोकर उबाल लिया जाता था। उबली हुई पूरियों पर बारीक मिर्च और नमक डालकर खाने में मजा आता था। कभी-कभी गुड़ डालकर लुग्दी जैसा बन जाता था, जिसे सभी बहुत चाव से खाते थे।

आज जब मैं इन सब बातों के बारे में सोचता हूँ तो मन के भीतर काँटे उगने लगते हैं, कैसा जीवन था ?

दिन-रात मर-खपकर भी हमारे पसीने की कीमत मात्र जूठन, फिर भी किसी को कोई शिकायत नहीं। कोई शर्मिंदगी नहीं, कोई पश्चाताप नहीं।

जब मैं छोटा था, माँ के साथ जाता था। माँ-पिताजी का हाथ बँटाने। तगाओं (त्यागियों) के खाने को देखकर अक्सर सोचा करता था कि हमें ऐसा खाना क्यों नहीं मिलता ? आज जब सोचता हूँ तो जी मितलाने लगता है।

अभी पिछले वर्ष मेरे निवास पर सुखदेव सिंह त्यागी का पोता सुरेन्द्र आया था, किसी इंटरव्यू के सिलसिले में। गाँव से मेरा पता लेकर आया था। रात में रूका।

मेरी पत्नी ने उसे यथासंभव अच्छा खाना खिलाया। खाना खाते-खाते वह बोला, ''भाभी जी, आपके हाथ का खाना तो बहुत जायकेदार है। हमारे घर में तो कोई भी ऐसा खाना नहीं बना सकता है।''

उसकी बात सुनकर मेरी पत्नी तो खुश हुई, लेकिन मैं काफी देर विचलित रहा। बचपन की घटनाएँ स्मृति का दरवाजा खटखटाने लगी।

सुरेन्द्र तब पैदा भी नहीं हुआ था। उसकी बड़ी बुआ यानी सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की की शादी थी। उनके यहाँ मेरी माँ सफाई करती थी। शादी से दस-बारह दिन पहले से माँ-पिताजी ने सुखदेव सिंह त्यागी के घर-आँगन से लेकर बाहर तक के अनेक काम किए थे। बेटी की शादी का मतलब गाँव भर की इज्जत का सवाल था। कहीं कोई कमी न रह जाए। गाँव भर से चारपाइयाँ ढो-ढोकर जनवासे में इकट्ठी की थीं पिताजी ने।

बारात खाना खा रही थी। माँ टोकरा लिए दरवाजे से बाहर बैठी थी। मैं और मेरी छोटी बहन माया माँ से सिमटे बैठे थे। इस उम्मीद में कि भीतर से जो मिठाई और पकवानों की महक आ रही है, वह हमें भी खाने को मिलेगी।

जब सब लोग खाना खाकर चले गए तो मेरी माँ ने सुखदेव सिंह त्यागी को दालान से बाहर आते देखकर कहा, ''चौधरी जी, ईब तो सब खाणा खा के चले गए... म्हारे जाकतों (बच्चों) कू भी एक पत्तल पर धर के कुछ दे दो। वो बी तो इस दिन का इंतजार कर रे ते।''

सुखदेव सिंह ने जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करके कहा, ''टोकरा भर तो

जूठन ले जा रही है...ऊप्पर से जाकतों के लिए खाणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।''

सुखदेव सिंह त्यागी के वे शब्द मेरे सीने में चाकू की तरह उतर गए थे, जो आज भी अपनी जलन से मुझे झुलसा रहे हैं। उस रोज मेरी माँ की आँखों में दुर्गा उतर आई थी। माँ का वैसा रूप मैंने पहली बार देखा था। माँ ने टोकरा वहीं बिखेर दिया था। सुखदेव सिंह से कहा था, ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देणा...''

हम दोनों भाई-बहनों का हाथ पकड़ के तीर की तरह उठकर चल दी थी। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटा था, लेकिन मेरी माँ ने शेरनी की तरह सामना किया था। बिना डरे।

उसके बाद माँ कभी उनके दरवाजे पर नहीं गई और जूठन का सिलसिला भी उस घटना के साथ बंद हो या था।

वही सुखदेव सिंह मेरे निवास पर एक बार आया था। मेरी पत्नी ने गाँव-देहात के बुजुर्ग के नाते उनका आदर-सत्कार किया था। उसने मेरे घर खाना भी खाया था। लेकिन जब वह चला गया तो मेरे भतीजे संजय खैरवाल, जो बी.एससी. का छात्र है, ने बताया कि चाचा जी, उन्होंने सिर्फ आपके घर खाया है, हमारे घर तो पानी भी नहीं पिया था।

मेरे बड़े भाई सुखबीर सूचेत तगा के सालाना नौकर थे। मैं उन दिनों पाँचवीं कक्षा में था। उनकी उम्र लगभग रही होगी 25-26 वर्ष। गहरे साँवले रंग के लंबे छरहरे कसरती बदन के थे। एक रोज एक जंगली साँड गाँव में घुस आया। कई लोगों को उसने अपने नुकीले सींगों से घायल कर दिया था। तगाओं के घेरों (जहाँ मवेशी बाँधे जाते हैं) में घुसकर बैलों, भैंसों और गायों को घायल कर चुका था। लोग छतों पर चढ़कर तमाशा देख रहे थे। किसी तगा में इतना साहस नहीं हुआ था कि जंगली साँड को गाँव से बाहर निकाल दे।

सुखबीर उस समय सूचेत के खेत से लौट रहा था। हो-हल्ला सुनकर उसने छत पर चढ़े तगाओं से पूछा तो साँड के बारे में सुना, सुखबीर ने उस साँड को गाँव से बाहर सिर्फ एक लाठी के भरोसे खदेड़ा था। उसके हौंसले और ताकत ने पूरे गाँव में धाक बैठा दी थी। बहुत दिनों तक गाँव भर में चर्चा होती रही थी।

एक दिन काम से लौटे तो बदन बुखार से तप रहा था। हफ्ते भर बिस्तर पर पड़े रहे। उचित दवा-दारू और बिना इलाज के चल बसे। परिवार पर जैसे गाज गिर पड़ी। सब कुछ तितर-बितर हो गया था। इस हादसे से पिताजी बुरी तरह टूट गए थे। माँ का हाल यह था कि थोड़ी-थोड़ी देर बाद मूर्छित हो जाती थी। भाभी छोटी उम्र में ही विधवा हो गई

थी। घर की हालत जो भाई के कारण सुधर रही थी, अचानक एक खतरनाक मोड़ पर आ गई थी। जब से भाई ने काम करना शुरू किया था, कोई भी छोटा भाई, बहन, भाभी किसी तगा के घर में काम करने नहीं जाता था। पिताजी, चाचा, मेहनत मजदूरी के लिए सड़क बनाने वाले ठेकेदार या और कोई ऐसा ही काम जो भी मिल जाए, करने लगे थे। मुझे अच्छी तरह याद है, भाई के रहते मेरी बड़ी भाभी और छोटी बहन घर से बाहर नहीं निकलीं। मैंने कभी किसी के घर जाकर झाड़ू नहीं लगाई।

हमारी बिरादरी में विधवा-विवाह को प्रारंभ से ही मान्यता थी। हिंदू-परंपराओं की तरह विधवा-विवाह हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

रिश्तेदारों, गाँव के बुजुर्गों की मौजूदी में मेरे दिवंगत भाई सुखबीर के ससुर ने अपनी विधवा बेटी का रिश्ता सुखबीर से छोटे जसबीर से तय कर दिया था, जिसे सामाजिक तौर पर सभी ने स्वीकृति दी थी। उस समय बड़े भाई का एक बड़ा बेटा नरेन्द्र लगभग डेढ़ बरस का था और भाभी गर्भवती थी। देवेन्द्र भाई की मृत्यु के छह-सात माह बाद हुआ था।

इस घटना के बाद परिवार का पूरा बोझ जसबीर के कंधें पर आ पड़ा था। गाँव में जो मिलता था, उससे गुजारा नहीं था। घर की आर्थिक स्थिति नाजुक थी। एक दिन 'तीरथ राम एंड कम्पनी' के साथ जसबीर आदमपुर चला गया था। उन दिनों आदमपुर (पंजाब) में भारतीय वायुसेना के लिए हवाई अड्डा बन रहा था। कुछ ही दिनों बाद, वह कंपनी बागडोगरा (बंगाल) का हवाई अड्डा बनाने चली गई थी। कई महीनों बाद बागडोगरा से जसबीर का खत आया था।

बंगाल का नाम सुनते ही माँ ने रो-राहट मचा दी थी। माँ की स्मृति में बंगाल की धारणा उन दिनों प्रचलित धारणाओं और मान्यताओं पर आधारित थी, जिसमें रविन्द्रनाथ टैगोर, क्रांतिकारियों का बंगाल नहीं था, काले जादू, टोने-टोटकों का बंगाल था, जहाँ औरतें आदमी को जादू से बकरा बनाकर आँगन में बाँध लेती है।

जिस दिन से खत मिला था, माँ दिन-रात रोती रहती थी। ''एक बेटा दुनिया से चला गया, दूसरा परदेस,'' घर पर मनहूसियत छा गई थी। भाभी बीमार रहने लगी थी। घर में रोटी के लाले पड़े हुए थे। जो मिल जाता था खा लेते थे। न कोई हँसता था, न एक दूसरे से कुछ बोलता था।

भाभी गुमसुम घुटनों में सिर दिए बैठी रहती थी। जैसे हर कोई अपने-अपने खोल में उलझ गया था।

मैं पाँचवीं कक्षा पास कर चुका था। छठी में दाखिला लेना था। गाँव में ही 'त्यागी इंटर कॉलेज, बरला' था, जिसका नाम बदलकर अब 'बरला इंटर कॉलेज, बरला' कर दिया गया है। घर के जो हालात थे उनमें दाखिला लेने का तो सवाल ही नहीं उठता था।

जहाँ रोटी ही नसीब न हो, वहाँ पढ़ाई की बात कोई कैसे सोच सकता है ?

स्कूल के साथियों को किताबें लिए जाते देखता तो मन भारी हो जाता था। मुझसे बड़े भाई जनेसर थे। हम दोनों सुबह ही घर से निकल जाते थे। खेतों में घूम-घूमकर जंगली घास अपनी भैंस के लिए एकत्र करते थे। मृत्यु से कुछ दिन पहले सुखबीर ने एक भैंस सूचेत तगा से बटाई पर ली थी। बियाने पर कुछ न कुछ आमदनी होने की संभावना थी। हम दोनों भाई उसकी सेवा में लगे रहते थे। दोपहर बाद मेरी जिम्मेदारी थी सूअर चराने की। सूअर हमारी जिंदगी का एक अहम् हिस्सा थे। शादी-ब्याह, हारी-बीमारी, जीवन-मृत्यु सभी में सूअर की महत्ता थी। यहाँ तक की पूजा-अर्चना भी सूअर के बिना अधूरी थी। आँगन में घूमते सूअर गंदगी के प्रतीक नहीं बल्कि सामाजिक समृद्धि के प्रतीक थे, जो आज भी वैसे ही हैं। हाँ, शिक्षित वर्ग (अभी भी प्रतिशत कम हैं) ने स्वयं को इन मान्यताओं से अलग कर लिया है। यह किसी सुधारवादी दृष्टिकोण के तहत नहीं बल्कि हीन भावना के कारण हैं। यह हीन भावना पढ़े-लिखे लोगों में कुछ ज्यादा ही है, जो सामाजिक दबावों के कारण है।

एक दिन मैं सूअर चराकर वापस घर लौट रहा था। रास्ते में सुक्खन सिंह मिल गया। उसने रोककर पूछा, "क्यों मदरसे जाणा छोड़ दिया, आग्गे नी पढ़ेगा ?" मैंने इनकार में सिर हिलाया। वह बहुत देर तक स्कूल के नए परिवेश की बात करता रहा कि जहाँ पहले, प्राइमरी स्कूल में चटाई पर बैठते थे, वहाँ कुर्सी और डेस्क थे। मास्टर पिटाई भी कम करते थे। हर एक विषय का अलग मास्टर था।

मैं जब घर लौटा तो मन उदास था। भीतर ही भीतर कुछ पिघल रहा था। स्कूल ना जाने की विवशता ने निराश कर दिया था। बार-बार इंटर कॉलेज की भव्य इमारत आँखों के सामने घूम रही थी।

घर पहुँचते ही मैंने माँ से कहा, "माँ, मैन्ने स्कूल जाणा है," मेरी आँखों में आँसू आ गए थे। मेरी डबडबाई आँखें देखकर माँ को भी रोना आ गया था। माँ जब रोती थी तो एक सुर में शिकवे-शिकायत बाहर आने लगते थे, जिसे सुनकर आस-पड़ोस की औरतें, माँ के इर्द-गिर्द इकट्ठा हो जाती थीं। वे जितना माँ को समझाने का यत्न करतीं, माँ उतने ही जोर से रोती थी।

भाभी अलग बैठी सुबक रही थी। वैसे भी भाई की मौत ने उसे अलग-थलग सा कर दिया था। भाभी के पास गहनों के नाम पर चाँदी की एक पाजेब थी, जिसे वह हमेशा अपने शादी के कपड़ों में सहेजकर रखती थी।

माँ का रोना-धोना जारी था। भाभी ने अपना टिन का बक्सा खोला और वह पाजेब लाकर माँ के हाथ में रख दी।

‘‘इसे बेच के लाल्ला जी का दाखिला करा दो।’’

आस-पड़ोस की औरतें मेरी भाभी के इस स्नेह को देखकर अभिभूत हो गई थी। मैं खुद भाभी से लिपटकर रोया था। उस वक्त मुझे अपने बड़े भाई सुखबीर की बहुत याद आई थी। वह दिन आज भी मेरे भीतर हौसला जगाता है।

पिताजी ने भाभी को बहुत मना किया, ‘‘ना बहू...इसे ना बेच...मैं कुछ न कुछ करके इसे स्कूल भेजूंगा। तू फिकर ना कर... एक यही तो चीज है तेरे पास... उसे भी बेच दें... रख ले इसे।’’

भाभी नहीं मानी और जिद करके माँ के हाथ में वह पाजेब दे दी।

वैद्य सत्यनारायण शर्मा पुरोहितगिरी के साथ-साथ चाँदी-सोने के जेवर गिरवी रखने, खरीदने और सूद पर रूपया चलाने का धंधा करते थे। माँ ने पाजेब उनके पास गिरवी रख दी थी, इस तरह छठी कक्षा में मेरा दाखिला हुआ था।

राम सिंह, सुक्खन सिंह दूसरे सेक्शन में थे। मेरा रोल नंबर सबसे आखिरी था। इसलिए मैं सबसे पीछे बैठता था। मेरे पासवाली सीट श्रवण कुमार शर्मा की थी। वैसे तो पहली कक्षा से हम लोग साथ थे। लेकिन पास-पास बैठने से घनिष्ठता बढ़ गई थी। श्रवण कुमार सुंदर और बेहद आकर्षक था। लड़कियों जैसा नाजुक। हम दोनों के बीच जाति कभी नहीं आई। यह एक अलग अनुभव था। मेरे साथियों में राम सिंह और सुक्खन सिंह भी थे। लेकिन सुक्खन सिंह मेरे घर कभी नहीं आया। अक्सर मैं उसके घर जाता था। साथ पढ़ते थे, बैठते थे। बाद में हमारे सम्बन्ध पारिवारिक स्तर पर भी बने। आज उनका बड़ा बेटा रजनीश मुझे और मेरी पत्नी को बहुत आदर देता है।

शायद सुक्खन सिंह में हिचकिचाहट थी, जो श्रवण कुमार में नहीं थी। उन दिनों, श्रवण कुमार और मेरे बीच एक तीसरा मित्र और जुड़ गया-नाम था चंद्रपाल वर्मा, जो मांडला गांव का रहने वाला था। जाति से गूजर। वह हमेशा श्रवण कुमार को तंग किया करता था। कभी उसके गाल नोच लेता था, कभी उसे धक्का मार देता। कभी किताबें छिपा देता। यह लगभग हर रोज होता था।

एक दिन कक्षा से बाहर निकलते हुए उसने श्रवण कुमार को कसकर पकड़ा और गाल पर काट लिया। पूरी कक्षा ने यह तमाशा देखा, कोई कुछ न बोला; बल्कि सब लोग जोर-जोर से हँस रहे थे। श्रवण कुमार रोने लगा था। चंद्रपाल सिंह वर्मा भी हँस रहा था। उस क्षण पता नहीं क्या हुआ, अपने से कद-काठी में दुगने चंद्रपाल की गर्दन मैंने अपनी बाजू में दबा ली और उसे नीचे गिरा लिया। चंद्रपाल गर्दन छुड़ाने के लिए कसमसाता रहा लेकिन मेरी गिरफ्त से नहीं छूटा। उस रोज चंद्रपाल मुझ पर नाराज नहीं हुआ। सिर्फ हँसता रहा। श्रवण कुमार से भी उसने माफी माँगी थी।

इस घटना के बाद हम तीनों अच्छे मित्र बन गए थे। यह दोस्ती ऐसी थी कि

एक–दूसरे के बगैर अधूरापन लगता था। छुट्टी होने पर मैं और श्रवण कुमार सड़क के रास्ते घर नहीं लौटते थे। खेतों, पगडंडियों से घूमकर घर पहुँचते थे। यह एक नियम बन गया था।

चंद्रपाल से दोस्ती का असर तत्काल दिखाई दिया था। त्यागी लड़को की छींटाकशी, दुत्कार से छुटकारा मिल गया था। अब पानी पीने के लिए नल पर खड़े रहकर इंतजार नहीं करना पड़ता था। चंद्रपाल के सामने सबकी घिग्घी बँध जाती थी। वह जिसे चाहे धपिया लेता था। वैसे भी त्यागी लड़के गूजर लड़को से डरते थे।

अर्धवार्षिक परीक्षा में, मैं अपने सेक्शन में प्रथम आया था। इस परिणाम ने मेरे भीतर आत्मविश्वास जगा दिया था। परीक्षा के बाद मुझे कक्षा का मॉनीटर बना दिया था तथा पीछे से आगे बैठने लगा था। लेकिन कुछ अध्यापकों का व्यवहार अभी भी ठीक नहीं था, उनके रवैये में प्रताड़ना थी, उपेक्षा भाव था।

मुझे सांस्कृतिक कार्यक्रमों, क्रियाकलापों से दूर रखा जाता था। ऐसे वक्त मैं सिर्फ किनारे खड़ा होकर दर्शक बना रहता था। स्कूल के वार्षिक उत्सव में जब नाटक आदि का पूर्वाभ्यास होता था, मेरी भी इच्छा होती थी कोई भूमिका मुझे भी मिले। लेकिन हमेशा दरवाजे के बाहर खड़ा रहना पड़ता था। दरवाजे के बाहर खड़े रहने की इस पीड़ा को तथाकथित देवताओं के वंशज नहीं समझ सकते।

तमाम शिक्षक त्यागी थे। छात्रों में भी संख्या त्यागियों की ही अधिक थी। उनके खिलाफ बोलने की स्थिति में कोई नहीं था।

परीक्षा के दिनों में प्यास लगने पर गिलास से पानी नहीं पी सकते थे। हथेलियों को जोड़कर ओक से पानी पीना पड़ता था। पिलानेवाला चपरासी भी बहुत ऊपर से पानी डालता था। कहीं गिलास हाथों से न छू जाए।

स्कूल में एक पुस्तकालय था, जिसमें पुस्तके धूल खा रही थीं। इसी पुस्तकालय में पुस्तकों से परिचय हुआ था पहली बार। आठवीं कक्षा पहुँचते–पहुँचते शरतचंद्र, प्रेमचंद, रवींद्रनाथ टैगोर को पढ़ डाला था। शरतचंद्र के पात्रों ने मेरे बालमन को बहुत गहरे तक छुआ था। पढ़ने का एक सिलसिला आरंभ हो गया था। उन दिनों मैं कुछ–कुछ अंतर्मुखी हो रहा था।

डिबिया (ढिबरी) की मन्द रोशनी में, माँ को उपन्यास, कहानियाँ पढ़कर सुनाने लगा था। न जाने कितनी बार शरतचंद्र के पात्रों ने माँ–बेटे को एक साथ रूलाया था। बस, यहीं से शुरू हो गए साहित्य के संस्कार। अनपढ़ अछूत परिवार में जन्में इस बेटे ने अपनी अनपढ़ माँ को 'आल्हा', 'रामायण', 'महाभारत' से लेकर 'सूर सागर', 'प्रेम सागर', 'सुख सागर', 'प्रेमचन्द' की कहानियाँ, 'तोता मैना' के किस्से...जो भी मिला सुना दिया।

अप्रैल 1993 में, राजेन्द्र यादव जी (संपादक, हंस) का निमंत्रण मिला था।

उन्होंने दिल्ली की मजदूर बस्तियों में 'कथा-कथन' के कार्यक्रम रखे थे, मुझे भी कहानी सुनाने का अवसर मिला। पहला कार्यक्रम 'वाल्मीकि मंदिर', मंदिर मार्ग में था। कहानी सुनाने पर एक अजीब सी अनुभूति हुई थी। उस रोज माँ की स्मृतियाँ ताजा हो गई थीं अचानक। साहित्य और पाठक के बीच जो फासला है उसे पाटने का इससे बेहतर तरीका और क्या हो सकता है ! अनपढ़ जनमानस साहित्य पढ़ नहीं सकता। जो पढ़ सकता है, वह खरीदकर पढ़ने की स्थिति में नहीं है। 'कथा-कथन' के माध्यम से साहित्य और साहित्यकार पाठकों के बीच जाकर एक सार्थक संवाद बनता है।

जैसे-जैसे मेरी पढ़ाई आगे बढ़ रही थी, आस-पड़ोस के उन हमउम्र साथियों का साथ छूटने लगा था, जो स्कूल नहीं जाते थे। भंगी-बस्ती से सतपाल और हिरम सिंह स्कूल जाने लगे थे। यानी तीस परिवारों से केवल तीन लड़के स्कूल जाते थे।

छठी कक्षा के बाद राम सिंह, सुक्खन सिंह और मैं फिर एक सेक्शन में आ गए थे। राम सिंह सबसे तेज था पढ़ने में। मैं और राम सिंह स्काउट दल में शामिल हो गए थे। जिला स्तरीय प्रतियोगिता के लिए स्काउट दल को शहर जाना था। स्कूल से खाकी हाफ पैंट और कमीज मिली थी। स्काउट मास्टर रमेशचंद ने वर्दी धोकर इस्तरी करने के लिए कहा था। उस समय तक मैंने कभी इस्तरी किया हुआ कपड़ा नहीं पहना था। त्यागी लड़को के कलफ लगे, ताजा धुले कपड़ों को देखकर मैं हमेशा सोचता था कि मैं भी ऐसे ही कपड़े पहनकर स्कूल जाऊँ। कभी-कभी तो त्यागियों के घर से मिली उतरन पहननी पड़ती थी। उन कपड़ों को देखकर लड़के चिढ़ाते थे। लेकिन यह उतरन भी हमारी बेबसी को ढक नहीं पाती थी। खाकी वर्दी को मैंने खूब रगड़-रगड़कर धोया था। समस्या थी इस्तरी करने की। मेरी कक्षा में एक धोबी का लड़का था। मैंने उससे कहा। उसने शाम को घर आने के लिए कहा। शाम को वर्दी लेकर मैं उसके घर गया। मुझे देखते ही उसका बाप चिल्लाया, ''अबे चूहड़े के किंघे घुसा आ रहा है ?'' उसका बेटा उसके पास खड़ा था। मैंने कहा, ''वर्दी पर इस्तरी करानी है।''

''हम चूहड़े-चमारों के कपड़े नहीं धोते, न ही इस्तरी करते हैं। जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएँगे, म्हारी तो रोजी-रोटी चली जागी...'' उसने साफ-साफ जवाब दे दिया था। उसके इस उत्तर ने मुझे हताश कर दिया था। बिना कुछ कहे, मैं उलटे पाँव लौट आया था। मन भारी हो गया था। ईश्वर से भरोसा उठ गया था। गरीबी और अभाव से किसी तरह निबटा जा सकता है, जाति से पार पाना उतना ही कठिन है।

एक मास्टर थे योगेन्द्र त्यागी। कुतुबपुर के रहने वाले थे। आदमी तो भले थे, इतिहास और अंग्रेजी पढ़ाते थे। बोलते अच्छा थे। पढ़ाते भी ठीक थे। इतिहास पढ़ाते समय तारीख जिस तरह बताते थे, मैं हैरान रह जाता था। लगता था कि मास्टर साहब को इतिहास

का बहुत ज्ञान है। इतिहास के प्रति मेरे मन में जिज्ञासा उन्होंने ही जगाई थी, जो आज भी बरकरार है।

पिताजी को वे पहचानते थे। जब भी मिलते, कहते, ''छोटन, अपने लड़के को पढ़ने से मत रोकना।''

इतना सब होने के साथ-साथ वे कक्षा में मुझे अजीब सांसत में डाल देते थे। कोई गलती हो जाने पर पीटने के बजाय मेरी कमीज पकड़कर ऐसे खींचते थे कि कमीज अब फटी...मेरा पूरा ध्यान अपनी कमीज पर रहता था। अपनी ओर खींचते हुए पूछते, ''सूअर की कितनी सांटे (सूअर की गोश्त की बोटी) खाई हैं? एक पाव तो खा ही लेते होंगे?''

जब भी मास्टर साहब ऐसी बातें कहते, मुझे रोना आ जाता था। आँखें छलक जाती थीं। मास्टर साहब की बातें सुनकर पूरी कक्षा हँसने लगती थी। लड़के इसी बात को लेकर तंग करते थे, 'अबे चूहड़े के, सूअर खाता है!' ऐसे क्षणों में मुझे वे तमाम त्यागी याद आने लगते थे जो रात के अँधेरे में छुप-छुपकर सूअर का गोश्त खाने भंगी-मोहल्ले में आते थे। मेरा मन करता, उन सबके नाम बता दूँ। जो लोग छुप-छुपकर गोश्त खाने आते थे, वे भी दिन में सबके सामने छुआछूत बरतते थे।

ऐसा ही एक नाम था तेजा तगा। कई लोग उससे कर्ज लेते थे। कर्जा देने से पहले वह सूअर का गोश्त और शराब माँगता था। भंगियों के घर का बना तेज मिर्चवाला खाना उसे पसंद था। एक बार मेरे पिताजी ने भी उससे कर्ज लिया था। उस रोज पिताजी ने उसे कच्ची शराब पिलाई थी। सूअर का गोश्त भी खिलाया था। सूअर की सांटे झिंझोड़ते हुए उसका चेहरा झबरे कुत्ते जैसा दिखता था। नशे में सुर्ख आँखों से शैतानियत झाँकती थी।

उसके ब्याज की दर इतनी ज्यादा थी कि ब्याज देते-देते जिंदगी बीत जाएगी, मूल ज्यों का त्यों बना रहेगा। भंगी-मोहल्ले के ज्यादातर लोग कर्ज में डूबे हुए थे। इसी कारण वे किसी भी ज्यादाती का विरोध नहीं कर पाते थे। तमाम लोग खामोशी से सब-कुछ सह जाते थे। मान-सम्मान का कोई अर्थ ही नहीं था। कोई भी आता, डरा-धमकाकर चला जाता था। यह सब रोज का किस्सा था। ❑



भाइयो ! आप लोग स्वच्छता से रहो। बुरे कार्य छोड़ दो। किसी के नौकर न बनकर स्वयं के पैरों पर खड़े रहना सीखो। अपने बाल-बच्चों को पाठशाला भेजो। उन्हें शिक्षित बनाओ। शिक्षा के बिना अब कोई चारा नहीं एवं सुधार की कोई संभावना नहीं। आप इज्जत से रहो और इज्जत के साथ जिंदा रहो।

– बाबा साहेब डॉ. भीमराव आंबेडकर

कहानी

सलाम

ओमप्रकाश वाल्मीकि

शादी की रस्म पूरी होते-होते रात के दो बज गए थे। ज्यादातर बाराती सो चुके थे। गिने-चुने लोग ही दूल्हे के साथ विवाह-मंडप में मौजूद थे। कमल उपाध्याय अतिरिक्त उत्साह में हरीश के साथ हर जगह मौजूद था। घर-परिवार के सदस्य की तरह सारी व्यवस्था कमल उपाध्याय की देख-रेख में संपन्न हो रही थी। हरीश और कमल के संबंध ही कुछ ऐसे थे।

फेरों से लौटकर वे बरामदे में ऐसी जगह तलाशने लगे, जहाँ थोड़ी देर पीठ टिकाकर पाँव सीधे किए जा सकें। छोटे से बरामदे में एक साथ इतने सारे लोग गुड़-मुड़ होकर सोए थे। कहीं ऐसी जगह नहीं बची थी कि खुलकर लेटा जा सके।

बारात ठहराने के लिए स्कूल का बरामदा ही मिल पाया था। प्रधान जी ने स्कूल खोल देने की हामी तो भर दी थी। लेकिन ऐन वक्त पर हेडमास्टर कहीं रिश्तेदारी में चले गए थे। काफी भागदौड़ के बाद भी चाबी नहीं मिली थी। आखिर हारकर बारात को बरामदे में ही ठहराना पड़ा था। स्कूल में जो हैंडपंप था, एक रात पहले किसी ने उसका हत्था और वाल्व भी खोल लिये थे। पीने के पानी का और कोई इंतजाम वहाँ नहीं था। बड़ी मुश्किल से दो मिट्टी के घड़े ही मिल पाए थे।

रोशनी के नाम पर भी सिर्फ अँधेरा ही था। सड़क के लैंपपोस्ट की हल्की पीली रोशनी बरामदे तक आकर अँधेरे में तब्दील हो गई थी।

हरीश ने दूल्हेपन के भार को उतारकर दीवार के सहारे पीठ टिका दी। कमल के लिए जगह बनाते हुए बोला, "थोड़ी देर कमर सीधी कर लो। थक गए होगे...तुम्हें तो यहाँ काफी अटपटा लग रहा होगा।"

कमल ने मोजे और जूते सहेजते हुए कहा, "रात भर की ही तो बात है किसी तरह गुजर जाएगी। गाँव के बारे में सिर्फ पढ़ा था। देखा आज ही है।"

"कैसा लग रहा है?" हरीश ने कमल को अपनी ओर खींचा।

"कैसा क्या...हालत दयनीय है...कितना धैर्य है लोगों में..." कमल ने गहरी साँस ली। बरामदे के किनारे पर दो बुजुर्ग अभी तक जगे थे। रुक-रुककर बातचीत कर रहे थे। हरीश और कमल की वार्तालाप सुनकर उनकी ओर मुखातिब हुए। उनमें से एक बोला, "बेट्टे, हरीश, तुम्हारा ये दोस्त पहली बार गाँव आया है क्या?"

"हाँ, ताऊ जी..." उत्तर कमल ने दिया।

"कौन बिरादर हो ?" बुजुर्ग ने बात आगे बढ़ाई।

'ताऊ, क्या इतना काफी नहीं है कि यह मेरा दोस्त है, और मेरी बारात में शामिल है?' हरीश ने नाराजगी व्यक्त की।

बुजुर्ग किसी जमाने में अंग्रेज अफसर की सेवा-टहल में थे, जब भी मौका मिलता, दिखाने की कोशिश करते।

'मैंन्ने कोई इंसलेट बात कही है क्या ?...जो बुरा मान गए!' बुजुर्ग चुप हो गया। "ताऊ जी...आपकी बात का बुरा क्या मानना...मैं ब्राह्मण हूँ...और कुछ पूछना हो तो पूछिए..." कमल ने विनम्रता दिखाई। बुजुर्ग ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।

"सो जाओ कमल, सुबह होने में अब ज्यादा देर नहीं है।" हरीश ने बात बदलने की कोशिश की।

कमल सोने का प्रयास करने लगा। कुछ देर की खामोशी के बाद बोला, "हरीश, सो गए क्या...सुबह क्या होगा ?"

हरीश की आँखों में नींद भरी हुई थी। अलसाए स्वर में बोला, "सुबह...क्या मतलब ?" "हरीश, सुबह जल्दी उठने की आदत है मेरी। चाहे देर रात दो बजे सोऊँ, नींद पाँच बजे ही टूट जाती है। माँ सुबह पाँच बजे से ही पूजा-पाठ में लग जाती हैं। उनकी खटर-पटर से मैं भी उठ जाता हूँ। बरसों से ऐसे ही चल रहा है। माँ सुबह-सुबह चाय बनाकर मेरे हाथ में थमा देती हैं। अब तो ऐसी आदत पड़ गई है कि यदि छह बजे तक चाय न मिले तो सिर भारी होने लगता है।" कमल ने अपनी तकलीफ सुनाई।

"यहाँ सुबह-सुबह छह बजे चाय कहाँ मिलेगी..." हरीश ने असमर्थता जताई। बुजुर्ग ने बीड़ी सुलगा ली थी। जो अँधेरे में चमक पैदा कर रही थी। कमल से बोले, "बाबू जी, गाँव के बाहर एक दुकान तो है। आप सुबह जाकर देख लेना। शायद मिल जाए।"

"आपने देखी है दुकान ? कितनी दूर है ?" कमल ने उत्सुकता दिखाई।

"पास ही है। शाम को मैंने वहाँ से बीड़ी का बंडल खरीदा था। सामने जो गली है उससे सीधे चलते जाना। गली खत्म होते ही सड़क है। वहीं पर एक दुकान है।" बुजुर्ग ने बताया।

सुबह उठते ही कमल चाय की तलाश में निकल पड़ा। गली लगभग सुनसान थी। इक्का-दुक्का लोग अजीब-सी बुक्कल मारे आ-जा रहे थे। रात वाली चहल-पहल कहीं दिखाई नहीं पड़ रही थी।

खड़ंजे पर फिसलन थी। नालियों में बहते पानी से बचते-बचाते वह गली के मुहाने पर एक खुली और रेतीली जगह पर आ गया। सामने ही सड़क के पार एक छप्परनुमा दुकान थी। जिसमें एक किनारे पर भट्टी बनी थी। भट्टी के साथ ही एक चबूतरा भी था। जिस पर लकड़ी के खोके में पान-बीड़ी, जर्दा, तंबाकू की थैलियाँ रखी

थीं। साथ ही दो-तीन बदरंग से डिब्बे रखे थे। भट्टी में सुलगते कोयलों से गहरा काला धुआँ निकल रहा था। जिसका कसैलापन उसने अपने फेफड़ों में महसूस किया। दीवार पर किसी सिने तारिका का अर्द्धनग्न बदरंग कैलेंडर टँगा था। जो धूल और धुएँ के हमलों से मटमैला हो गया था।

भट्टी के पास ही एल्यूमिनियम की एक बड़ी-सी केतली रखी थी। जिसका रंग स्याह काला पड़ गया था। कुछ काँच के मटमैले गिलास, कप प्लेटें और शीशे के एक जार में कुछ बिस्कुट पड़े थे। भगोना बाहर से काला और भीतर से भूरा, मटमैला दिखाई पड़ रहा था। आसपास मक्खियों के झुंड के झुंड भिनभिना रहे थे।

चबूतरे पर ही एक जर्जर-सा बूढ़ा आदमी मैले-चीकट कपड़ों में उकडूं बैठा बीड़ी पी रहा था। उसके हाथों, पैरों की नसें उभरी हुई थीं। जैसे किसी ने शरीर का मांस उतारकर त्वचा हड्डियों से चिपका दी हो।

पास ही एक पुरानी-सी बेंच पड़ी थी। जिसकी हालत उस बूढ़े आदमी से भी बदतर थी। कमल ने बेंच पर बैठने की कोशिश की। बेंच चरमराई। किसी तरह अपने आपको बेंच पर टिकाकर कमल ने बूढ़े से कहा, "चाय मिलेगी ?"

"मिलेगी...थोड़ा टेम लगेगा।" बूढ़े ने बीड़ी का आखिरी कश खींचा।

कमल दुकान में रखी हर चीज को उत्सुकता से देख रहा था। उसके जेहन में माँ का खयाल आ गया। यदि इस समय घर में होता तो माँ गर्म-गर्म चाय लेकर आती। चाय बनाते समय भी माँ कोई-न-कोई श्लोक दोहराती रहती है।

धुएँ का झोंका कमल के मुँह और आँखों में भर गया। उसने जेब से रूमाल निकालकर नाक-मुँह पर रखा। कड़वाहट उसके भीतर समा गई थी।

"कितनी देर लग जाएगी चाय में... ?" कमल ने जिज्ञासा की।

"बस...अभी हो जागी...भट्टी सुलग री है। बैट्ठो आप..." चायवाले ने आश्वस्त किया।

चायवाला लोहे के सरिए से भट्टी में कोयले सँवारने लगा।

"नए दिख रहे हो बाबू जी...कहाँ से आए हो ?" चायवाले ने बात शुरू की।

'देहरादून से।' कमल ने सहजता से कहा। उसका ध्यान सुलगती भट्टी पर टिका था।

देहरादून का नाम सुनकर चायवाला चौंका, "देहरादून से तो कल एक बारात भी आई है।" चायवाले ने प्रश्न की तरह कहा।

"हाँ, मैं उसी बारात में आया हूँ।"

"वह बारात तो चूहड़ों के घर आई है।" चायवाले की जिज्ञासा गोली में बदल चुकी थी।

"तो क्या हुआ ?" कमल ने सवाल किया।

चायवाला एकदम चुप हो गया था। उसकी चुप्पी ने कमल को संशय में डाल

दिया था। चायवाले के हाव–भाव बदल गए थे।

वह भट्टी के पास से हटकर इधर–उधर के काम करने लगा था। कभी इस डिब्बे को उठाकर उधर रख रहा था, कभी मटके से पानी निकालकर कनस्तर में भर रहा था। भट्टी सुलगकर लाल–लाल अंगारों में बदल गई थी। अंगारों से लपटें उठ रही थीं, लेकिन चाय बनने के आसार दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

कमल का गला खुश्क होने लगा था। "भट्टी तो धधक गई है। एक कप चाय बना दीजिए।" कमल ने शालीनता से कहा।

चायवाला अनसुना करके अपने काम में लगा हुआ था। कमल का धैर्य टूटने लगा, "भई, चाय बना दो।"

चायवाले ने वहीं से जवाब दिया, "तुझे यहाँ चाय ना मिलने की।" चायवाले की आवाज में रूखापन था। जिसे महसूस करते हुए कमल ने तीखेपन से पूछा, "लेकिन क्यों ? अभी थोड़ी देर पहले तो आपने कहा था, चाय मिलेगी।"

"कहा था...और इब कह रा हूँ नहीं मिलेगी..." चायवाले ने कठोरता से कहा। कमल चायवाले के व्यवहार से चकित था। फिर भी नम्रता से बोला, "लेकिन भाई साहब हुआ क्या है ?...क्या मैं पैसे नहीं दूंगा ?"

चायवाला उसके ठीक सामने तनकर खड़ा हो गया। दोनों हाथ कूल्हों पर टिकाकर सीना चौड़ा करते हुए बोला, "यो पैसे सहर में जाके दिखाणा। दो पैसे हो गए जेब में तो सारी दुनिया को सिर पे ठाये घूमो...ये सहर नहीं गाँव है...यहाँ चूहड़े–चमारों को मेरी दुकान में तो चाय ना मिलती...कहीं और जाके पियो।"

कमल की नसें फड़फड़ाने लगीं। उसने चायवाले को आग्नेय नेत्रों से घूरा। आवाज में सख्ती भरकर बोला, "चूहड़े–चमारों को नहीं मिलती है तो किसे मिलती है ?"

चायवाला उसकी बात अनसुनी करके फिर अपने काम में लग गया था। कमल को वह असभ्य वनमानुष दिखाई पड़ रहा था। उसने साहस करके पूछा, "तुम्हारी क्या जात है ?"

चायवाला भभक पड़ा, "मेरी जात से तुझे क्या लेणा–देणा। इब चूहड़े–चमार भी जात पूछने लगे... कलजुग आ गया है कलजुग।"

"हाँ, कलजुग आ गया है, सिर्फ तुम्हारे लिए, तुम अपनी जात नहीं बताना चाहते हो तो सुनो–मेरा नाम कमल उपाध्याय है। उपाध्याय का मतलब तो जानते ही हो, या समझाऊँ...उपाध्याय यानी ब्राह्मण।" कमल ने आँखें तरेरकर कहा।

"चूहड़ों की बारात में बामन ?" चायवाला कर्कशता के साथ हँसा।

"सहर में चूतिया बणाना...मैं तो आदमी कू देखते ही पिछाण (पहचान) लूँ... कि किस जात का है ?" चायवाले ने शेखी बघारी।

उनका वार्तालाप सुनकर राह चलते लोग ठिठककर मजा लेने लगे। सुबह-सुबह का वक्त था, देखते-ही-देखते लोग जमा हो गए। लोगों को देखकर चायवाले की बूढ़ी हड्डियों में जोश आ गया था। आवाज का तेवर चढ़ने लगा।

बल्लू रांघड़ का रामपाल भी भीड़ देखकर ठिठक गया। माजरा क्या है, जानने के लिए चाय की दुकान की ओर बढ़ा। बूढ़ा चायवाला किसी शहरी को फटकार रहा था। रामपाल ने छूटते ही पूछा, "चाच्चा, कोण है यो ?"

रामपाल को देखते ही चायवाला और बिफर पड़ा, "चूहड़ा है। खुद कू बामन बतारा है। जुम्मन चूहड़े का बाराती है। इब तुम लोग ही फैसला करो। जो यो बामन है तो चूहड़ों की बारात में क्या मूत पीणे आया है। जात छिपाके चाय माँग रा है। मैंन्ने तो साफ कह दी। बुद्धू की दुकान पे तो मिलेगी ना चाय चूहड़ों-चमारों कू, कहीं और ढूँढ़ ले जाके।" चायवाले ने आसपास खड़े लोगों का समर्थन जुटाने की कोशिश की।

दुबला-पतला-सा रामपाल सीकिया पहलवान था। गाल पिचके हुए, हड्डियाँ उभरी हुई। बारीक मूँछें, तेल से चीकट बाल। कुल मिलाकर ऐसा हुलिया, जिसे देखकर यह अंदाज बिलकुल नहीं हो सकता था कि इस डेढ़ हड्डी के आदमी का गाँव भर में दबदबा है।

रामपाल को देखते ही खुसर-पुसर एकदम शांत हो गई थी। कमल भी स्वयं को चक्रव्यूह में फँसा महसूस करने लगा था। उसने आसपास खड़े लोगों पर नजर डाली। उसने उनकी बात का विरोध करने के लिए मुँह खोला, "भाइयो... !"

बात पूरी होने से पहले ही रामपाल ने उसे डाँटा, "ओ, सहरी जनखे हम तेरे भाई हैं ?-साले जबान सिभाल के बोल, गाँड में डंडा डाल के उलट दूँगा। जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बणा। इतनी जोरदार लौंडिया लेके जा रे हैं सहर वाले, जुम्मन के तो सींग लिकड़ आए हैं। अरे, लौंडिया को किसी गाँव में ब्याह देता तो म्हारे जैसों का भी कुछ भला हो जाता..." एक तीखी हँसी का फव्वारा छूटा। आसपास खड़े लोगों ने उसकी हँसी में अपनी हँसी मिला दी।

कमल को लगा जैसे अपमान का घना बियाबान जंगल उग आया है। उसका रोम-रोम काँपने लगा। उसने आसपास खड़े लोगों पर निगाहें डालीं। हिंसक शिकारी तेज नाखूनों से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे।

उसने पहली बार अखबारों में छपी उन खबरों को शिद्दत से महसूस किया। जिस पर विश्वास नहीं कर पाता था वह। फलाँ जगह दलित युवक को पीट-पीटकर मार डाला, फलाँ जगह आग में भून दिया। घरों में आग लगा दी। जब-जब भी हरीश इस तरह का समाचार कमल को सुनाता, वह एक ही तर्क दोहरा देता था।

"हरीश अपने मन से हीन भावना निकालो। दुनिया कहाँ-से-कहाँ निकल गई

और तुम लोग वहीं–के–वहीं हो। उगते सूरज की रोशनी को देखो। अपने आप पर विश्वास करना सीखो। पढ़–लिखकर ऊपर उठोगे तो सब कुछ अपने–आप मिट जाएगा।"

लेकिन इस वक्त कमल के सामने हरीश का एक–एक शब्द सच बनकर खड़ा था। सच साबित हो रहा था।

कमल ने फिर से साहस बटोरा और विरोध किया, "क्या यही है गाँव का अतिथि सत्कार। आप लोग अपने ही गाँव की लड़की के लिए ऐसी बातें कर रहे हो। क्या वह इस गाँव की बेटी नहीं है ?"

कमल आगे कुछ और बोलता उससे पहले ही रामपाल ने अपने वजूद से ज्यादा शक्ति से चीखकर बोला, "जा चुपचाप चला जा... वरना एक भी जिंदा वापस ना जा सकेगा, ना बो लौडिया ही जा पाएगी..." कमल को धक्का देकर छप्परनुमा दुकान से बाहर कर दिया रामपाल ने।

कमल कोई बावेला खड़ा करना नहीं चाहता था। सीने में उठ रहे ज्वार को उसने शांत रखा। उसे हरीश का खयाल आ गया। वक्त की नजाकत भाँपकर चुप रह जाना ही ठीक लगा।

सड़क से उतरकर वह रेतीले रास्ते पर आ गया। उसकी रग–रग में अंगारे दहक रहे थे। लड़कों का झुंड उसके पीछे लग गया था। वे कमल को चिढ़ाने का प्रयास करने लगे।

"चूहड़ा...चूहड़ा...चूहड़ा..." वे जोर–जोर से चिल्ला रहे थे। प्रत्येक शब्द नश्तर की तरह उसके जिस्म को चीरकर लहूलुहान कर रहा था।

कमल लड़कों से बचकर गली की ओर लपका। तेज कदमों से लगभग दौड़ते हुए वह जनवासे में पहुँचा। उसकी साँस फूल गई थी। मूड बुरी तरह उखड़ा हुआ था। जिस्म पर अभी तक हजारों–चीटियाँ रेंग रही थीं। पोर–पोर गर्म दहकते लावे–सा जल रहा था।

उसे देखते ही हरीश ने पूछा, "क्या बात है ? चेहरा उतरा हुआ है ?"

"कुछ नहीं... ठीक हूँ।" कमल ने गहरी साँस ली।

"कहाँ चले गए थे ? बड़ी देर लगा दी। चाय का इंतजाम कराया है। बस तुम्हारा ही इंतजार था।" हरीश ने कहा।

कमल दीवार के सहारे टिककर बैठ गया। चुपचाप। जैसे विचारों की सुनसान पगडंडियों पर अकेला विचरण कर रहा हो, उसे इस तरह खामोश देखकर हरीश ने पूछा, "क्या बात है ? कुछ परेशान लग रहे हो ?"

"नहीं, कुछ नहीं...बस थोड़ा सिर भारी है।" कमल ने टालना चाहा।

उसके जेहन में पंद्रह वर्ष पुरानी घटना दस्तक देने लगी। जिसकी स्मृति मात्र से ही उसके शरीर में एक लहर-सी दौड़ गई।

उस रोज कमल हरीश को पहली बार स्कूल से सीधा अपने घर ले गया था। पिताजी कहीं बाहर गए हुए थे। उसने अपनी माँ से हरीश को मिलाया था। माँ ने दोनों को खाने के लिए कुछ दिया था। हरीश ने पहला कौर उठाकर मुँह में रखा ही था कि कमल की माँ ने पूछा, "बेटे, तुम्हारे पापा क्या करते हैं ?"

"जी, नगरपालिका में सफाई कर्मचारी हैं।" हरीश ने सहजता से उत्तर दिया।

हरीश का जवाब सुनते ही कमल की माँ आग-बबूला हो गई थी। कमल के गाल पर एक झन्नाटेदार थप्पड़ पड़ा था।

"पता नहीं कहाँ-कहाँ से इन कंजड़ों को पकड़कर घर ले आता है। खबरदार जो आगे से किसी हरामी को दुबारा यहाँ लाया..." कमल पर यह हमला अप्रत्याशित था। वह न रोया, न कोई प्रतिरोध ही कर सका था। सिर्फ फटी-फटी आँखों से माँ के गुस्से से भरे चेहरे को देखता रह गया था।

माँ ने हरीश को भी ढेर-सी गालियाँ देकर घर से भगा दिया था। माँ की दुत्कार, फटकार से हरीश बुरी तरह आहत हुआ था। उसे पहली बार लगा था कमल और वह दोनों अलग-अलग हैं। दोनों के बीच कोई फासला है। उसे अपने पड़ोसी सुगना के शब्द याद आ रहे थे, "बेट्टे, बामन से दोस्ती रास नहीं आएगी।" लेकिन हरीश ने सुगना की बात को कभी अहमियत नहीं दी थी। कमल उसके लिए अपना था, एकदम सगा। बल्कि अपनों से कहीं ज्यादा। इस घटना ने हरीश के मन पर कई खरोंचें डाल दी थीं।

हरीश के जाने के बाद माँ लगातार बड़बड़ाती रही थी। सारा घर दुबारा धोया गया था। गंगाजल छिड़ककर जमीन पवित्र की गई थी।

कमल के बालमन में भी एक दरार पैदा हो गई थी। वह चुपचाप जाकर अपने कमरे में लेट गया था। ढेरों सवाल उसके मन को कचोट रहे थे आखिर माँ ने ऐसा क्यों किया। क्या कमी है हरीश में। दिन भर उसने कुछ नहीं खाया था। रात में भी माँ ने बहुत समझाया था। ऊँच-नीच बताई थी। फिर भी वह चुपचाप निर्विकार मुद्रा में बैठा था। माँ के सारे दाँव उसे मनाने में हार गए थे।

"बेटे, इनके संस्कार गलत हैं, ये छोटे लोग हैं। इनके साथ बैठने से बुरे विचार मन में पैदा होते हैं..." और भी कई बातें माँ ने बताई थीं। लेकिन कमल के अनुभव इन सबसे भिन्न थे।

माँ के तर्कों से जब वह ऊबने लगा तो आखिर उसने माँ से पूछ ही लिया, "तुम कभी उनके घर गई हो ? उनसे मिली हो ? फिर कैसे जानती हो वे बुरे लोग हैं ?"

माँ अवाक् होकर कमल का चेहरा देखने लगी थी। कमल की आँखों में गुस्सा

नहीं था। ऐसा कुछ था जो धीरे-धीरे बर्फ की तरह पिघल रहा था। जिसे वह पकड़ना चाहती थी, पर उसकी पकड़ में नहीं आ रहा था।

माँ ने हारकर एक समझौता कर लिया था। जिसकी जानकारी हरीश को कभी नहीं हुई। हरीश के खाने-पीने के लिए कुछ बर्तन अलग रख दिए थे। तब से आज तक कमल एक ऐसी अँधेरी गली में चल रहा था जहाँ रोशनी का कोई कतरा दिखाई नहीं देता है। उसे हमेशा लगता है जैसे वह हरीश से विश्वासघात कर रहा है।

कमल को खयालों में डूबा देखकर हरीश ने उसे टोका, "कहाँ खो गए...लो चाय पियो..."

एक देहाती लड़का चाय के दो गिलास थामे खड़ा था। कमल ने एक गिलास उसके हाथ से ले लिया। चाय की चुस्की लेते हुए कमल का बिगड़ा हुआ मूड बदलने लगा। चाय पीने के बाद सिरदर्द से भी थोड़ी राहत महसूस की उसने।

सूरज सिर के ऊपर चढ़ गया था। शादीवाले घर में काफी चहल-पहल थी। दोपहर के खाने में विशेष इंतजाम किया गया था। पास के कस्बे से 'नान' और 'मीट' बनाने के लिए कारीगर बुलाया गया था। एक मोटा ताजा बकरा काटा गया था। पके हुए 'मीट' और गर्म मसालों की महक पूरे आँगन में फैल गई थी। कुछ लोग सुबह से ही दारू पीने बैठ गए थे। काफी हो-हल्ला होने लगा था। बच्चों की चिल्ल-पों अलग थी। बड़े-बूढ़े हुक्के की गुड़-गुड़ में अपने जमाने को याद कर रहे थे। औरतों की व्यस्तता कुछ अलग थी। हरीश की सास ने पुराने कपड़ों पर एक नई ओढ़नी डाल ली थी। दूल्हे को साथ लेकर उसे 'सलाम' पर जाना था।

हरीश के पिताजी कुछ परेशान दिखाई दे रहे थे। कमल ने परेशानी का कारण जानना चाहा तो वे टाल गए। सुबह से ही कुछ चल रहा था। जिसका थोड़ा आभास कमल को होने लगा। लेकिन कोई भी उसके सामने खुलकर बात नहीं कर रहा था।

हरीश के ससुर जुम्मन ऋषिकेश में सरकारी कर्मचारी थे। परिवार गाँव में रहता था। पारंपरिक जीवन था। गाँव के कई परिवारों में साफ-सफाई का काम हरीश की सास करती थी। जुम्मन की बड़ी लड़की बाप के साथ ऋषिकेश में ही रहती थी, सरकारी मकान में। आस-पड़ोस की देखा-देखी जुम्मन ने उसे भी स्कूल भेज दिया। देखते-देखते उसने हाईस्कूल की परीक्षा पास कर ली थी। साथ ही उसमें सुघड़ता भी आ गई थी। अच्छा परिवेश पाकर उसमें बदलाव आ गया था। गाँव-भर की लड़कियों से अलग दिखाई पड़ती थी। वैसे इस गाँव की वह पहली लड़की थी। जिसने हाईस्कूल पास किया था।

जुम्मन की घरवाली जिन परिवारों में काम करती थी, उनमें अधिकतर रांघड़ थे। गाँव-देहात के नियम-कायदे के हिसाब से हरीश को 'सलाम' के लिए विदाई से पहले रांघड़ों के दरवाजे पर जाना था। यह एक रस्म थी। जिसे न जाने कितनी सदियों से निभाया जा रहा था।

हरीश के पिताजी ने साफ इनकार कर दिया था, "हम 'सलाम' पर अपने लड़के को नहीं भेजेंगे।"

रांधड़ परिवारों से कई बार बुलावा आ चुका था। बिरादरी के बड़े-बूढ़े अपने-अपने तर्क देकर ऊँच-नीच समझा रहे थे।

"बाप-दादों की रीत है, एक दिन में तो ना छोड़ी जावे है। वे बड़े लोग हैं। 'सलाम' पे तो जाणा ही पड़ेगा। और फिर जल में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना तो ठीक नहीं है। और इसी बहाने कपड़ा-लत्ता, बर्तन-भाँडे भी नेग-दस्तूर में आ जाते हैं।"

हरीश ने भी स्पष्ट तौर पर कह दिया था, "मुझे न ऐसे कपड़े चाहिए, न बर्तन, मैं अपरिचितों के दरवाजे 'सलाम' पर नहीं जाऊँगा।"

हरीश ने जब-जब भी किसी दूल्हे या दुल्हन को इस तरह दरवाजे-दरवाजे घूमते देखा, उसे लगता था जैसे स्वाभिमान को चिंदी-चिंदी करके बिखेरा जा रहा है। बाजे-गाजे के साथ घूमता दूल्हा निरीह जीव दिखाई पड़ता था। "दामाद हो या नई-नवेली दुल्हन 'सलाम' के लिए घर-घर जाने का रिवाज है, जो हमने नहीं पुरखों ने बनाया था। जिसे इस तरह छोड़ देना ठीक नहीं है। गाँव में रहना है। दस जरूरतें हैं।" जुम्मन ने जोर देकर कहा।

हरीश ने तीखें शब्दों में कहा, "आप चाहे जो समझें....मैं इस रिवाज को आत्मविश्वास तोड़ने की साजिश मानता हूँ। यह 'सलाम' की रस्म बंद होनी चाहिए।"

आवाज सुनकर कमल हरीश की ओर बढ़ा। कमल को अपनी ओर आते देखकर हरीश चुप हो गया। हरीश का चेहरा तनाव से कसा हुआ था। "क्या बात है हरीश . ..कुछ मुझे भी तो बताओ..." कमल ने जिज्ञासा प्रकट की।

प्रत्येक कार्य-कलाप में कमल हरीश के साथ था। घर से लेकर यहाँ तक। लेकिन इस वक्त वह अपने आपको अलग-थलग महसूस कर रहा था।

हरीश के पिताजी ने कमल के कंधे पर हाथ रखा, "कुछ नहीं है बेटे...आप वहीं बैठो। सामने आँगन में नीम के पेड़ के नीचे मैंने आपके लिए एक चारपाई डलवा दी है, आराम करो, जात-बिरादरी की कुछ समस्याएँ हैं... हम निबटा लेंगे... !"

कमल को लगा जैसे वह सचमुच बाहरी व्यक्ति है, उसने कातर दृष्टि से हरीश की ओर देखा, हरीश ने आँखों के इशारे से शांत रहने के लिए कहा, कमल जाकर चारपाई पर बैठ गया।

दोपहर होते-होते बात पूरे गाँव में फैल गई। जुम्मन के जँवाई ने 'सलाम' पर आने से मना कर दिया है। गाँव के रांघड़ बल्लू रांघड़ की चौपाल पर जुटने लगे थे। ऐसा लग रहा था जैसे जोहड़ के पानी में किसी ने कंकड़ फेंक दिए हों। गोल-गोल लहरें घूमकर किनारों तक फैल गई थीं। रांघड गुस्से में फनफनाए घूम रहे थे।

बल्लू रांघड़ का सीकिया पहलवान रामपाल कमल उपाध्याय को चाय की दुकान से धकियाकर चौड़ा हुआ घूम रहा था। अपनी बहादुरी का किस्सा समूचे गाँव को सुना चुका था। कैसे एक चहूड़े को उसने चाय की दुकान में जात छिपाकर चाय पीते, रंगे हाथों पकड़ लिया। बराती था इसलिए छोड़ दिया। यह हरकत किसी और ने की होती तो अभी तक अरथी सज रही होती। लोग सुनते और मजा लेते, साथ ही अपनी ओर से कुछ जोड़ देते। दोपहर तक चर्चा पूरे गाँव में फैल गई थी।

बल्लू रांघड़ हालात देखकर खुद जुम्मन के घर आया। आते ही उसने जुम्मन और उसकी घरवाली को मेहमानों के सामने ही फटकार सुनाई।

"जुम्मन तेरा जँवाई इब तक 'सलाम' पर क्यों नहीं आया। तेरी बेटी का ब्याह है तो हमारा बी कुछ हक बनता है। जो नेग-दस्तूर होता है, वो तो निभाना ही पड़ेगा। हमारी बहू-बेटियाँ घर में बैठी इंतजार कर रही हैं। उसे ले के जल्दी आ जा..."

जुम्मन ने सिर पर लिपटा कपड़ा उतारकर बल्लू रांघड़ के पाँव में धर दिया, "चौधरी जी, जो सजा दोगे भुगत लूँगा। बेटी कू बिदा हो जाण दो। जमाई पढ़ा-लिखा लड़का है, गाँव-देहात की रीत ना जाणे है।"

"तभी तो कहूँ- जातकों (बच्चों) कू स्कूल ना भेज्जा करो। स्कूल जाके कोण-सा इन्हें बालिस्टर बणना है। ऊपर से इनके दिमाग चढ़ जांगें। यो न घर के रहेंगे न घाट के। गाँव की नाक तो तूने पहले ही कटवा दी जो लौंडिया कू दसवीं पास करवा दी। क्या जरूरत थी लड़की कू पढ़ाने की, गाँव की हवा बिगाड़ रहा है तू। इब तेरा जँवाई 'सलाम' पे जाणे से मना कर रहा है... उसे समझा दे... 'सलाम' के लिए जल्दी आवे..." बल्लू ने फैसला सुनाया।

जुम्मन ने गिड़गिड़ाकर रिरियाहट भरे शब्दों में कहा, "चौधरी जी, मेरी लाज रख लो...मैं तो थारा गुलाम हूँ...मेरा तो जीना-मरना सब कुछ थारी ही गेल है। जो कहोगे करूँगा... बस करके बेटी कू विदा हो जाण दो। मैं थारे पाँव में नाक रगडूं..."

बल्लू रांघड़ गुस्से में फनफनाता चल दिया। जाते-जाते चेतावनी देकर बोला, "इन सहर वालों कू कह देणा-कव्वा कबी बी हंस ना बण सके है।"

बल्लू के जाते ही कमल ने हरीश से पूछा, "कौन था यह ? इस तरह डरा-धमका क्यों रहा था ?" हरीश ने चुप रहने का इशारा किया। सभी भय से सहम गए थे। बल्लू रांघड़ के जाते ही बिदाई की तैयारी शुरू हो गई थी। जुम्मन ने जात-बिरादरी की स्त्रियों को हिदायत दे दी थी, "टीके की रस्म जल्दी निबटाएँ, बिना हो-हल्ले के रांघड़ कभी भी रौला कर सकते हैं।"

शादी की सारी चहल-पहल पल-भर में सन्नाटे में सिमटकर बदल गई थी। इस सन्नाटे का शोर कमल उपाध्याय को बेचैन कर रहा था। उसका दम घुट रहा था। उसने

हरीश की ओर देखा। हरीश की आँखों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान के उगते सूरज की चमक दिखाई पड़ रही थी। दोनों ने एक-दूसरे का हाथ गर्मजोशी से दबाया। आँखों-ही-आँखों में एक-दूसरे को आश्वस्त किया। नीम के पेड़ पर हरी नर्म पत्तियाँ हिल रही थीं, मानो हौंसला दे रही हों।

जल्दी-जल्दी बारात को खाना खिलाया गया। कमल और हरीश खाना खाकर नीम की छाँव में पड़ी चारपाई पर बैठ गए थे। सामने दीवार की ओर मुँह करके एक दस-बारह बरस का लड़का खड़ा था। उसके चेहरे पर गुस्से के भाव थे।

उसे ढूँढते-ढूँढते एक बूढ़ा आँगन में घुसा। उसके हाथ में 'नान' और 'मीट' था? "दीपू...ओ...दीपू...कहाँ है...ये लौंडा भी बहुत दिक करे है। चूहड़ों के घर पैदा होके बामनों-सी बोली बोले है।" उसे दीवार के पास खड़ा देख, उसने डाँटा, "तू यहाँ छुपा खड़ा है...मैं कब से तुझे ढूँढ़ रहा हूँ। ले रोट्टी खा ले...ले देख कितना अच्छा मीट बणा है।" बूढ़े ने मनाने की कोशिश की।

"ना...मैं नी खात्ता...इसे खाए मेरा मूत।" लड़के ने ऐंठते हुए कहा।

"पर क्यूँ?... क्या हुआ है इसमें?" बूढ़े ने तल्खी से कहा।

"मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी मैं नी खात्ता।" लड़के ने दूर हटते हुए कहा।

"मुसलमान?"...कोण मुसलमान?

"वो जो गाड़ा वहाँ बैट्ठा रोट्टी बणा रा है।" लड़के ने रोटी बनाने वाले कारीगर की ओर इशारा किया।

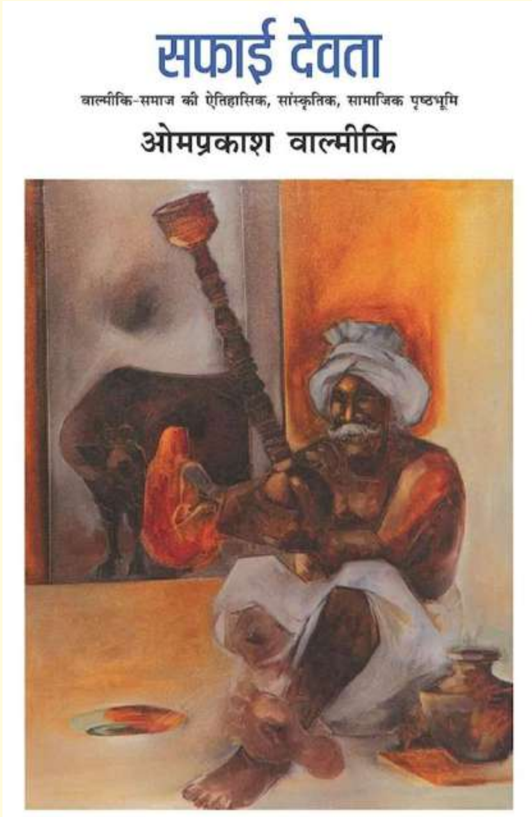
"वो...वो तो हिंदू है... चलकर देख ले!" बूढ़ा उसे खींचकर ले जाने लगा। लड़का घिसटते हुए बूढ़े के पीछे-पीछे जा रहा था। चीख-चीखकर कह रहा था, "नहीं... वह मुसलमान है। मैं नी खाऊँगा उसके हाथ की बणी रोट्टी... मैं नहीं खाऊँगा।"

"अबे, उल्लू की दुम... एक बार चलके तो देख ले। फेर कहणा।" बूढ़ा उसे घसीटकर भट्टी की ओर ले गया जहाँ 'नान' बन रहे थे। लड़के के चीखने की आवाज लगातार आ रही थी।

"नहीं... नहीं, मैं मुसलमान के हाथ की बणी रोट्टी नहीं खाऊँगा... नहीं खाऊँगा... नहीं खाऊँगा।"

कमल और हरीश फटी-फटी आँखों से उस लड़के को देख रहे थे। कुछ देर पहले जगा आत्मविश्वास लड़के की आवाज में दबने लगा था। कमल और हरीश दोनों खामोशी के अँधेरे जंगल में भटक गए थे। उन्होंने एक-दूसरे की ओर देखा और गहरी साँस ली। ❑

> "स्वाभिमान से जीने के लिए पढ़ाई करो, पाठशाला ही इंसानों का सच्चा गहना है।"
> **- सावित्रीबाई फुले**



भूमिका अंशः ख्यात दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की इस पुस्तक में देश-समाज के सबसे उपेक्षित तबके भंगी या वाल्मीकि की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ मौजूदा वास्तविक स्थिति का सप्रमाण वर्णन करने का प्रयास किया गया है। साथ ही इस पुस्तक में वाल्मीकि समाज में प्रचलित गौत्रों के चलन व उनके निकास, आधार तथा वाल्मीकि समाज में प्रचलित पूजा-पाठ, बलि प्रथा आदि का सटीक विवरण है।

कितने आश्चर्य की बात है कि समाज को स्वच्छ और साफ रखनेवाले मनुष्य को, उसी समाज में जिसे वह रहने लायक बनाता है, कुत्ते-बिल्लियों से भी नीचे गिना जाता है। इससे बड़ी विडम्बना भला और क्या हो सकती है, कि समाज के लिए जो सबसे ज्यादा उपयोगी है, वही निकृष्ट और त्याज्य है, वही अंत्यज, अछूत, अस्पृश्य है, और यह एक-दो वर्ष या पचास-सौ वर्ष की बात नहीं है, हजारों साल से यह मानसिकता बरकरार है। आज भी स्थिति यही है कि 'भंगी' का नाम सुनते ही लोगों की भौंहें तन जाती हैं। उनके काम के प्रति अक्सर लोग उदासीन होते हैं या फिर कार्य को निकृष्ट मानकर उनकी उपेक्षा करते हैं। इसीलिए यह जाति हमेशा घोर उपेक्षा और पीड़ा के साथ जी रही है।

'भंगी'-शब्द सुनकर ही लोगों की भौंहें तन जाती हैं। समाज की उपेक्षा और प्रताड़ना ने उनमें इस हद तक हीनताबोध भर दिया है कि वाल्मीकि समाज के उच्च शिक्षित लोग भी अपनी पहचान छुपाते फिरते हैं। दलितों में दलित यह तबका आर्थिक विपन्नता की दलदल में फँसा है। पुनर्वसन की राजनीति करनेवाले इस तंत्र में इन सफाई कर्मचारियों के पुनर्वसन की जरूरत कभी किसी ने महसूस नहीं की। उच्चवर्गीय, ब्राह्मणवादी मानसिकता और सामन्ती सोच-विचार के लोग इन्हें कोई भी सामाजिक अधिकार देने के पक्ष में नहीं हैं।

इस पुस्तक का उद्देश्य ऐतिहासिक उत्पीड़न, शोषण और दमन का विश्लेषण करना है। उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का आकलन करना है, और उसके सामने खड़ी समस्याओं का विवेचन करना है। इसके लिए ऐतिहासिक विवरण ही काफी नहीं हैं, वर्तमान का मूल्यांकन भी उतना ही आवश्यक है। लेखक का उद्देश्य लम्बे भीषण, नारकीय दौर में वाल्मीकि समाज की उपलब्धियों, संघर्षों की खोज कर, ऐसी मिसाल पेश करना है जो भविष्य के अन्धकार से उसे बाहर निकलने की प्रेरणा दे सके। ❑

पुस्तक : सफाई देवता (वाल्मीकि समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि) **लेखक :** ओमप्रकाश वाल्मीकि
प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली। **पृष्ठ :** 156, **मूल्य :** ₹175
प्रथम संस्करण : 2008
चौथा संस्करण : 2019

कहानी

पच्चीस चौका डेढ़ सौ

ओमप्रकाश वाल्मीकि

पहली तनख्वाह के रुपए हाथ में थामे सुदीप अभावों के गहरे अंधकार में रोशनी की उम्मीद से भर गया था। एक ऐसी खुशी उसके जिस्म में दिखाई पड़ रही थी जिसे पाने के लिए उसने असंख्य कँटीले झाड़-झंखाड़ों के बीच अपनी राह बनाई थी। हथेली में भींचे रुपयों की गर्मी उसकी रग-रग में उतर गई थी। पहली बार उसने इतने रुपए एक साथ देखे थे।

वह वर्तमान में जीना चाहता था। लेकिन भूतकाल उसका पीछा नहीं छोड़ रहा था। हर पल उसके भीतर वर्तमान और भूत की रस्साकसी चलती रहती थी। अभावों ने कदम-कदम पर उसे छला था। फिर भी उसने स्वयं को किसी तरह बचाकर रखा था। इसीलिए यह मामूली नौकरी भी उसके लिए बड़ी अहमियत रखती थी।

नई-नई नौकरी में छुट्टियाँ मिलना कठिन होता है। उसे भी आसानी से छुट्टी नहीं मिली थी। उसने रविवार की छुट्टियों में अतिरिक्त काम किया था, जिसके बदले उसे दो दिन का अवकाश मिल गया था। वह पहली तनख्वाह मिलने की खुशी अपने माँ-बाप के साथ बाँटना चाहता था।

स्कूल की पढ़ाई और नौकरी के बीच समय और हालात की गहरी खाई को वह पाट नहीं सकता था। फिर भी खाई के बीच जो कुछ भी था, उसे सांत्वना देकर उसकी पीड़ा को तो वह कम कर ही सकता था। सुख-दु:ख के चंद लम्हे आपस में बाँटकर पीड़ा कम हो जाती है। उसने इस पल के इंतजार में एक लंबा सफर तय किया था। ऐसा सफर जिसमें दिन-रात और मान-अपमान के बीच अंतर ही नहीं था।

शहर से गाँव तक पहुँचने में दो-ढाई घंटे से ज्यादा लग जाते थे। इसीलिए वह सुबह ही निकल पड़ा था। बस अड्डे पर आते ही उसे बस मिल गई थी। बस में काफी भीड़ थी। बड़ी मुश्किल से उसे बैठने की जगह मिल पाई थी।

कंडक्टर किसी यात्री पर बिगड़ रहा था, "इस सामान को उठाओ। छत पर रखो। आने-जाने का रास्ता ही बंद कर दिया है। किसका है यह सामान?" कंडक्टर ने ऊँचे और कर्कश स्वर में पूछा।

एक दुबला-पतला-सा ग्रामीण धीमे स्वर में बोला, "जी, मेरा है।" कंडक्टर ने ग्रामीण के वजूद को तौलते हुए आवाज सख्त करके लगभग दहाड़ते हुए कहा, "तेरा है तो इसे अपने पास रख। यहाँ रास्ते में क्यों अड़ा दिया है ? उठा इसे!"

ग्रामीण ने गिड़गिड़ाकर अजीब-सी मरियल आवाज में कहा, "साहब...नजदीक ही उतरना है..."

सुदीप जब भी किसी को गिड़गिड़ाते देखता है तो उसे अपने पिता जी की छवि याद आने लगती है। ऐसे में उसका पोर-पोर चटखने लगता है। जैसे कोई धीरे-धीरे उसके जिस्म पर आरी चला रहा हो।

उसने कंडक्टर की ओर देखा। कंडक्टर का तोंदियल शरीर कपड़े फाड़कर आने को छटपटा रहा था। बनैले सुअर की तरह उसके चेहरे पर पान से रँगे दाँत, उसकी भव्यता में इजाफा कर रहे थे। सुदीप को लगा जंगली सुअर बस की भीड़ घुस आया है। उसने सहमकर सहयात्री की ओर देखा तो निरपेक्ष भाव से अपने खयालों में गुम था। सुदीप ने ग्रामीण पर नजर डाली जो अभी तक दयनीयता से उबर नहीं पाया था।

उसके भीतर पिता जी की छवि आकार लेने लगी। वह दिन स्मृति में दस्तक देने लगा जब पिता जी उसे लेकर स्कूल में दाखिल कराने ले गए थे। उनकी बस्ती के बच्चे स्कूल नहीं जाते थे। पता नहीं पिता जी के मन में यह विचार कैसे आया कि उसे स्कूल में भरती कराया जाए। जबकि पूरी बस्ती में पढ़ाई-लिखाई की ओर किसी का ध्यान नहीं था।

पिता जी लंबे-लंबे डग भरकर चल रहे थे। उसे उनके साथ चलने में दौड़ना पड़ता था। उसने मैली-सी एक बदरंग कमीज और पट्टेदार नीकरनुमा कच्छा पहन रखा था। जिसे थोड़ी-थोड़ी देर बाद ऊपर खींचना पड़ता था।

स्कूल के बरामदे में पहुँचकर पिता जी पलभर के लिए ठिठके। फिर धीरे-धीरे चलकर इस कमरे से उस कमरे में झाँकने लगे। हर एक कमरे में अँधेरा था। जिसमें बच्चे पढ़ रहे थे। मास्टर कुर्सियों पर उकड़ूँ बैठे बीड़ी पी रहे थे या ऊँघ रहे थे। पिता जी फूलसिंह मास्टर को ढूँढ़ रहे थे। दो-तीन कमरों में झाँकने के बाद एक छोटे-से कमरे की ओर मुड़े। उस कमरे में अन्य कमरों से ज्यादा अँधेरा था। फूलसिंह मास्टर अकेले बैठे बीड़ी पी रहे थे।

उन्हें दरवाजे पर देखकर फूलसिंह मास्टर खुद ही बाहर आ गए थे। पिता जी ने मास्टर जी को देखते ही दयनीय स्वर में गिड़गिड़ाकर कहा, "मास्टर जी, इस जातक (बच्चे) कू अपणी सरण में ले लो। दो अच्छर पढ़ लेगा तो थारी दया ते यो बी आदमी बाण जागा। म्हारा जिनगी बी कुछ सुधर जागी।"

सुदीप पिता जी की उस मुद्रा को कभी भूल नहीं पाया। वे हाथ जोड़कर झुके खड़े थे। फूलसिंह मास्टर ने बीड़ी का टोंटा अँगूठे के इशारे से दूर उछाला और पिता जी को लेकर हेडमास्टर के कमरे में चले गए।

सुदीप का दाखिला हो गया था। पिता जी खुश थे। उनकी इस खुशी में भी वही गिड़गिड़ाहट झलक रही थी। झुक-झुककर मास्टर फूलसिंह को सलाम कर रहे थे।

बस हिचकोले खा-खाकर रेंग रही थी। आसपास के यात्रियों ने बीड़ी-सिगरेट का धुआँ ऐसे उगलना शुरू कर दिया था। जैसे सभी अपनी-अपनी दुश्‍चिंताओं को धुएँ के बादलों में विलीन कर देंगे। उसने अपने पास की खिड़की का शीशा सरकाया। ताजा हवा की

हलकी-हलकी सरसराहट भीतर घुस आई।

उसकी स्मृति में स्कूल के दिन एक के बाद एक लौटकर आने लगे। दूसरी कक्षा तक आते-आते वह अच्छे विद्यार्थियों में गिना जाने लगा था। तमाम सामाजिक दबावों और भेदभावों के बावजूद वह पूरी लगन से स्कूल जाता रहा। सभी विषयों में वह ठीक-ठाक था। गणित में उसका मन कुछ ज्यादा ही लगता था।

मास्टर शिवनारायण मिश्रा ने चौथी कक्षा के बच्चों से पंद्रह तक पहाड़े याद करने के लिए कहा था। लेकिन सुदीप को चौबीस तक पहाड़े पहले से ही अच्छी तरह याद थे। मास्टर शिवनारायण मिश्रा ने शाबासी देते हुए पच्चीस का पहाड़ा याद करने के लिए सुदीप से कहा।

स्कूल से घर लौटते ही सुदीप ने पच्चीस का पहाड़ा याद करना शुरू कर दिया, वह जोर-जोर से ऊँची आवाज में पहाड़ा कंठस्थ करने लगा, पच्चीस ही कम पच्चीस, पच्चीस दूनी पचास, पच्चीस तिया पचहत्तर, पच्चीस चौका सौ...

पिता जी बाहर से थके-हारे लौटे थे। उसे पच्चीस का पहाड़ा रटते देखकर उनके चेहरे पर संतुष्टि-भाव तैर गए थे। थकान भूलकर वे सुदीप के पास बैठ गए थे। वैसे तो उन्हें बीस से आगे गिनती भी नहीं आती थी। लेकिन पच्चीस का पहाड़ा उनकी जिंदगी का अहम पड़ाव था। जिसे वे अनेक बार अलग-अलग लोगों के सामने दोहरा चुके थे। जब भी उस घटना का जिक्र करते थे, उनके चेहरे पर एक अजीब-सा विश्वास चमक उठता था।

सुदीप ने पच्चीस का पहाड़ा दोहराया और जैसे ही पच्चीस चौका सौ कहा, उन्होंने टोका।

"नहीं बेट्टे... पच्चीस चौका सौ नहीं... पच्चीस चौका डेढ़ सौ..." उन्होंने पूरे आत्मविश्वास से कहा।

सुदीप ने चौंककर पिता जी को ओर देखा। समझाने के लहजे में बोला, "नहीं पिता जी,... पच्चीस चौका सौ... यह देखो गणित की किताब में लिखा है।"

"बेट्टे, मुझे किताब क्या दिखावे हैं। मैं तो हरफ (अक्षर) बी ना पिछाणूँ। मेरे लेखे तो काला अच्छर भैंस बराबर है। फिर बी इतना तो जरूर जाणूँ कि पच्चीस चौका डेढ़ सौ होता है।" पिता जी ने सहजता से कहा।

"किताब में तो साफ-साफ लिक्खा है-पच्चीस चौका सौ..." सुदीप ने मासूमियत से कहा।

"तेरी किताब में गलत बी तो हो सके... नहीं तो क्या चौधरी झूठ बोल्लेंगे। तेरी किताब से कहीं ठाड्डे (बड़े) आदमी हैं चौधरी जी। उनके धोरे (पास) तो ये मोट्टी-मोट्टी किताबें हैं...वह जो तेरा हेडमास्टर है वो बी पाँव छुए है चौधरी जी के। फेर भला वो गलत बतावेंगे...मास्टर से कहणा सही-सही पढ़ाया करे..." पिता जी ने उखड़ते हुए कहा।

"पिता जी...किताब में गलत थोड़े ही लिक्खा है..." सुदीप रुआँसा हो गया।

"तू अभी बच्चा है। तू क्या जाणे दुनियादारी। दस साल पहले की बात है। तेरे होणे से पहले। तेरी म्हतारी बीमार पड़गी थी। बचने की उम्मेद ना थी। सहर के बड़े डॉक्टर से इलाज करवाया था। सारा खर्चा चौधरी ने ही तो दिया था। पूरा सौ का पत्ता... यो लंबा लीले (नीले) रंग का लोट (नोट) था। डॉक्टर की फीस, दवाइयाँ सब मिलाकर सौ रुपए बणे थे।"

"जब तेरी माँ ठीक-ठाक होके चलण-फिरण लगी तो मैं चार महीने बाद चौधरी जी की हवेली में गया। दुआ सलाम के बाद मैन्ने चौधरी जी ते कहा। चौधरी जी मैं तो गरीब आदमी हूँ। थारी मेहरबान्नी से मेरी लुगाई की जान बच गई। वह जी गई वरना मेरे जातक (बच्चे) बिरान हो जात्ते। तमने सौ रुपए दिए ते। उनका हिसाब बता दो। मैं थोड़ा-थोड़ा करके सारा कर्ज चुका दूँगा। एक साथ देणे की मेरी हिम्मत ना है चौधरी जी।" चौधरी जी ने कहा, "मैन्ने तेरे बुरे बखत में मदद करी ती। ईब तू ईमानदारी ते सारा पैसा चुका देना। सौ रुपए पर हर महीने पच्चीस रुपए ब्याज के बनते हैं। चार महीने हो गए हैं। ब्याज-ब्याज के हो गए हैं पच्चीस चौका डेढ़ सौ। तू अपणा आदमी है तेरे से ज्यादा क्या लेणा। डेढ़ सौ में से बीस रुपए कम कर दे। बीस रुपए तुझे छोड़ दिए। बचे एक सौ तीस। चार महीने का ब्याज। एक सौ तीस अभी दे दे। बाकी रहा मूल जिब होगा दे देणा। महीने के महीने ब्याज देते रहणा।"

"ईब बता बेट्टे पच्चीस चौका डेढ़ सौ होते हैं या नहीं। चौधरी भले और इज्जतदार आदमी हैं जो उन्होंने बीस रुपए छोड़ दिए। नहीं तो भला इस जमान्ने में कोई छोड्डे है। अपणे सिव नारायण मास्टर के बाप बड़े मिसिर जी कू ही देख लो। एक धेल्ला बी ना छोड्डे। ऊप्पर ते बिगार (बेगार) अलग ते करावे हैं। जैसे बिगार उनका हक है। दिन भर में गोड्डे टूट जाँ। मजूरी के नाम पे खाल्ली हाथ। ऊप्पर ते गाली अलग। गाली तो ऐसे दें हैं जैसे बेद मंतर पढ़ रहे हों।"

सुदीप ने पच्चीस का पहाड़ा दोहराया। "पच्चीस ही कम पच्ची, पच्चीस दूनी पचास, पच्चीस तिया पचहत्तर, पच्चीस चौका डेढ़ सौ..."

अगले दिन कक्षा में मास्टर शिवनारायण मिश्रा ने पच्चीस का पहाड़ा सुनाने के लिए सुदीप को खड़ा कर दिया। सुदीप खड़ा होकर उत्साहपूर्वक पहाड़ा सुनाने लगा। "पच्चीस ही कम पच्चीस, पच्चीस दूनी पचास, पच्चीस तिया पचहत्तर, पच्चीस चौका डेढ़ सौ..."

मास्टर शिवरानायण मिश्रा ने उसे टोका, पच्चीस चौका सौ...

मास्टर जी के टोकने से सुदीप अचानक चुप हो गया और खामोशी से मास्टर का मुँह देखने लगा।

मास्टर शिवनारायण मिश्रा कुर्सी पर पैर रखकर उकड़ूँ बैठे थे। बीड़ी का सुट्टा मारते हुए बोले, "अबे ! चूहड़े के आगे बोलता क्यूँ नी ? भूल गिया क्या !"

सुदीप ने फिर पहाड़ा शुरू किया। स्वाभाविक ढंग से पच्चीस चौका डेढ़ सौ कहा।

मास्टर शिवनारायण मिश्रा ने डाँटकर कहा, "अबे ! कालिए, डेढ़ सौ नहीं सौ...सौ !"

सुदीप ने डरते-डरते कहा, "मास्साब ! पिता जी कहते हैं पच्चीस चौका डेढ़ सौ होवे है।"

मास्टर शिवनारायण हत्थे से उखड़ गया। खींचकर एक थप्पड़ उसके गाल पर रसीद किया। आँखें तरेरकर चीखा, "अबे तेरा बाप इतना बड़ा बिदवान है तो यहाँ क्या अपनी माँ... (एक क्रिया-जिसे सुसंस्कृत लोग साहित्य में त्याज्य मानते हैं)... आया है साले; तुम लोगों को चाहे कितना भी लिखाओ, पढ़ाओ... रहोगे वहीं-के-वहीं...दिमाग में कूड़ा-करकट जो भरा है। पढ़ाई-लिखाई के संस्कार तो तुम लोगों में आ ही नहीं सकते। चल बोल ठीक से...पच्चीस चौका सौ... स्कूल में तेरी थोड़ी-सी तारीफ क्या होने लगी पाँव जमीन पर नहीं पड़ते। ऊप्पर से जबान चलावे है। उलटकर जवाब देत्ता है।"

सुदीप ने सुबकते हुए पच्चीस चौका सौ कहा और एक साँस में पूरा पहाड़ा सुना दिया।

उस दिन की घटना ने उसके दिमाग में उलझन पैदा कर दी। यदि मास्साब सही कहते हैं तो पिता जी गलत क्यूँ बता रहे हैं। यदि पिता जी सही हैं तो मास्साब क्यूँ गलत बता रहे हैं। पिता जी कहते हैं चौधरी बड़े आदमी हैं, झूठ नहीं बोलते। उसके हृदय में बवंडर उठने लगे।

नर्म और मासूम बालमन पर एक खरोंच पड़ गई थी। जो समय के साथ और गहरा गई थी। किसी ने ठीक ही कहा, मन में गाँठ पड़ जाए तो खोले नहीं खुलती। सोते-जागते, उठते-बैठते, पच्चीस चौका डेढ़ सौ उसे परेशान करने लगा।

बालमन की यह खरोंच ग्रंथि बन गई थी। जब भी पच्चीस की संख्या पढ़ता या लिखता, उसे पच्चीस चौका डेढ़ सौ ही याद आता। साथ ही याद आता पिता जी का विश्वास भरा चेहरा और मास्टर शिवनारायण मिश्रा का गाली-गलौज करता लाल-लाल गुस्सैल चेहरा। दोनों चेहरे एक साथ स्मृति में दबाए पच्चीस चौका डेढ़ सौ की अँधेरी दुर्गम गलियों में भटकने लगा। जैसे-जैसे बड़ा होने लगा, कई सवाल उसके मन को विचलित करने लगे। जिनके उत्तर उसके पास नहीं थे।

बस अड्डे से थोड़ा पहले एक बड़ा-सा गति अवरोधक था। जिसके कारण अचानक ब्रेक लगने से बस में बैठे यात्रियों को झटका लगा। कई लोग तो गिरते-गिरते बचे। झटका लगने से सुदीप की विचार तंद्रा भी टूट गई। उसने जेब को छूकर देखा। तनख्वाह के रुपए जेब में सही सलामत थे।

बस गाँव के किनारे रुकी। बस अड्डे के नाम पर दो-एक दुकानें पान-बीड़ी की, एक पेड़ के तने से टिकी पुरानी-सी मेज पर बदरंग आईना रखकर बैठा गाँव का ही बदरू

नाई। नाई से थोड़ा हटकर दूसरे पेड़ तले बैठा गाँव का मोची, एक केले–अमरूद वाला। बस यही था बस अड्डा।

सुदीप ने बस से नीचे उतरकर आसपास नजर दौड़ाई। बस अड्डे पर कोई विशेष चहल–पहल नहीं थी। इक्का–दुक्का लोग इधर–उधर बैठे थे। वह सीधा घर की ओर चल पड़ा। गाँव के पश्चिमी छोर पर तीस–चालीस घरों की बस्ती में उनका घर था।

दोपहर होने को आई थी। सूरज काफी ऊपर चढ़ गया था। उसने तेज–तेज कदम उठाए। लगभग महीने भर बाद गाँव लौटा था। जानी–पहचानी चिरपरिचित गलियों में उसे अपने बचपन से अब तक बिताए पल गुदगुदाने लगे। इससे पहले उसने कभी ऐसा महसूस नहीं किया था। एक अनजाने से आत्मीय सुख से वह भर गया था। अपना गाँव, अपने रास्ते, अपने लोग। उसने मन–ही–मन मुसकुराकर कीचड़ भरी नाली को लाँघा और बस्ती की ओर मुड़ गया। गाँव और बस्ती के बीच एक बड़ा–सा जोहड़ था। जिसमें जलकुंभी फैले हुए थे।

जलकुंभी का नीला फूल उसे बहुत अच्छा लगता है। इक्का–दुक्का फूल दिखाई पड़ने लगे थे। उसने जोहड़ के किनारे–किनारे चलना शुरू कर दिया। पिता जी आँगन में पड़ी एक पुरानी चारपाई की रस्सी कस रहे थे। सुदीप को आया देखकर वे उसकी ओर लपके।

“अचानक... क्या बात है... लगता है सहर में जी नी लग्या।”

“नहीं, ऐसी बात नहीं है... बस ऐसे चला आया।” सुदीप ने सहजता से कहा।

जेब से निकालकर तनख्वाह के रुपए उनके हाथ में रखकर, पाँव छुए। पिता जी गद्‌गद हो गए। दोनों हाथों में रुपए थामकर माथे से लगाया जैसे देवता का प्रसाद ग्रहण कर रहे हों। मन–ही–मन अस्फुट शब्दों में कुछ बुदबुदाए। फिर सुदीप की माँ को पुकारा, “दीपे की माँ, करके यहाँ तो आ... ले सिंभाल अपने लाड़ले की कमाई।”

माँ आवाज सुनकर बाहर आई। आँचल पसारकर रुपए लिये और सुदीप को छाती से लगा लिया। उस क्षण ऐसा लग रहा था जैसे समूचा घर खुशी की बारिश में भीग रहा है।

सुदीप चुपचाप सभी के खिले चेहरे देख रहा था, सब खुश थे, ऊपरी तौर पर तो वह भी मुसकुरा रहा था, लेकिन उसके भीतर एक खलबली मची थी। वह अशांत था।

उसने माँ से कहा, “यहाँ बैट्‌ठो माँ...” हाथ बढ़ाकर आँचल से कुछ रुपए ले लिये, गंभीर स्वर में बोला, “पिता जी, मुझे आपसे एक बात कहनी है।”

“क्या बात है बेट्‌टे ?... कुछ चाहिए ? ' पिता जी ने जिज्ञासावश पूछा।

“नहीं पिताजी कुछ नहीं चाहिए... मैं आपको कुछ बताना चाहता हूँ।”

पिता जी गुमसुम होकर उसकी ओर देखने लगे। कुछ देर पहले की खुशी पर धुंध फैलने लगी थी। तरह–तरह की आशंकाएँ उन्हें झकझोरने लगी थीं। वे अचानक बेचैनी महसूस करने लगे थे।

सुदीप ने पच्चीस–पच्चीस रुपए की चार ढेरियाँ लगाई। पिता जी से कहा, “अब

आप इन्हें गिनिए।"

पिता जी चुपचाप सुदीप की ओर देख रहे थे, उनकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। असहाय होकर बोले, "बेट्टे, मुझे तो बीस ते आग्गे गिनना बी नी आत्ता, तू ही गिणके बता दे।" सुदीप ने धीमे स्वर में कहा, "पिता जी, ये चार जगह पच्चीस-पच्चीस रुपए हैं। अब इन्हें मिलाकर गिनते हैं...चार जगह का मतलब है पच्चीस चौका..." कुछ क्षण रुककर सुदीप ने पिताजी की ओर देखा। फिर बोले, "अब, अब देखते हैं पच्चीस चौका सौ होते हैं या डेढ़-सौ।"

पिता जी अवाक् होकर सुदीप का चेहरा देखने लगा। उनकी आँखों के आगे चौधरी का चेहरा घूम गया। तीस-पैंतीस साल पुरानी घटना साकार हो उठी। यह घटना जिसे वे अब तक न जाने कितनी बार दोहराकर लोगों को सुना चुके थे। आज उसी घटना-को नए रूप में लेकर बैठ गया था सुदीप।

सुदीप रुपए गिन रहा था बोल-बोलकर। सौ पर जाकर रुक गया। बोला, "देखो, पच्चीस चौका सौ हुए... डेढ़ सौ नहीं।"

पिता जी ने उसके हाथ से रुपए ऐसे छीने जैसे सुदीप उन्हें मूर्ख बना रहा है। वे रुपए गिनने का प्रयास करने लगे। लेकिन बीस पर जाकर अटक गए। सुदीप ने उनकी मदद की। सौ होने पर पिता जी की ओर देखा। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था। उन्होंने फिर एक से गिनना शुरू कर दिया। बीस पर अटक गए। उलट-पलटकर रुपयों को देख रहे थे, जैसे कुछ उनमें कम हैं। सुदीप ने फिर गिनकर दिखाए। पिता जी को यकीन ही नहीं आ रहा था। सुदीप ने हर बार उनकी शंका का समाधान किया, हर प्रकार से।

आखिर पिता जी को विश्वास हो गया। सुदीप ठीक कह रहा है। पच्चीस चौका सौ होते हैं। झूठ-सच सामने था।

पिता जी के हृदय में जैसे अतीत जलने लगा था। उनका विश्वास जिसे पिछले तीस-पैंतीस सालों से वे अपने सीने में लगाए चौधरी के गुणगान करते नहीं अघाते थे, आज अचानक काँच की तरह चटककर उनके रोम-रोम में समा गया था। उनकी आँखों में एक अजीब-सी वितृष्णा पनप रही थी। जिसे पराजय नहीं कहा जा सकता था। बल्कि विश्वास में छले जाने की गहन पीड़ा ही कहा जाएगा।

उन्होंने अपनी मैली चीकट धोती के कोने से आँख की कोर में जमा कीचड़ पोंछा और एक लंबी साँस ली। रुपए सुदीप को लौटा दिए। उनके चेहरे पर पीड़ा का खंडहर उग आया था। जिसकी दीवारों से ईंट, पत्थर और सीमेंट भुरभुराकर गिरने लगे थे। उनके अंतस् में एक टीस उठी, जैसे कह रहे हों, 'कीड़े पड़ेंगे चौधरी... कोई पानी देने वाला भी नहीं बचेगा।' ❑

ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान

समादृत रचनाकारों की सूची

वर्ष : 2020

- श्री सज्जन क्रान्ति : मथुरा (उ.प्र.)
- श्री देव कबीर : कानपुर (उ.प्र.)
- श्री आर.डी. आनंद : फैजाबाद (उ.प्र.)
- डॉ. पूनम तुषामड़ : दिल्ली
- श्री राज वाल्मीकि : दिल्ली
- डॉ. कर्मानंद आर्य : बिहार
- डॉ. प्रवीन कुमार : सहारनपुर (उ.प्र.)
- श्री अरविंद भारती : आगरा (उ.प्र.)
- डॉ. राजकुमारी : दिल्ली
- श्री दीपक मेवाती : नूंह (हरियाणा)

वर्ष : 2021

- प्रो. नामदेव : दिल्ली
- डॉ. सुमित्रा मेहरोल : दिल्ली
- श्री संतोष पटेल : बिहार
- डॉ. अमित धर्मसिंह : उत्तर प्रदेश
- डॉ. कार्तिक चौधरी : पश्चिम बंगाल
- डॉ. सुरेखा : हरियाणा
- डॉ. चैनसिंह मीना : राजस्थान
- श्री आर.एस. आघात : उत्तर प्रदेश
- डॉ. राम भरोसे : उत्तराखंड
- श्री सुनील पंवार : राजस्थान

वर्ष : 2022

- श्री विपिन बिहारी : बिहार
- डॉ. राजेश पाल : उत्तराखंड
- डॉ. नीलम : दिल्ली
- डॉ. मुकेश मिरोठा : दिल्ली
- डॉ. खन्नाप्रसाद अमीन : गुजरात
- श्री सतीश खनगवाल : राजस्थान
- डॉ. उषा यादव : तेलंगाना
- श्री प्रदीप कुमार ठाकुर : पश्चिम बंगाल
- श्री रमन कुमार : हरियाणा
- श्री बच्चा लाल 'उन्मेष' : उत्तर प्रदेश

वर्ष : 2023

- डॉ. एन. सिंह : उत्तर प्रदेश
- श्री सोहन लाल 'सुबुद्ध' : उत्तर प्रदेश
- श्री जयप्रकाश वाल्मीकि : राजस्थान
- श्री अजय यतीश : झारखंड
- प्रो. लालचन्द राम : दिल्ली
- डॉ. जगदीश चन्द्र सितारा : तेलंगाना
- डॉ. नविला सत्यादास : पंजाब
- श्री बिभाश कुमार : बिहार
- श्री सुरेश सौरभ : उत्तर प्रदेश
- डॉ. प्रेम कुमार : दिल्ली

वर्ष : 2024

- प्रो. महेन्द्र सिंह बेनीवाल : दिल्ली

वर्ष : 2025

- प्रो. किशोरीलाल रैगर 'पथिक' : राजस्थान

साक्षात्कार

मुख्यधारा से वंचित रहना ही बेहतर

ओमप्रकाश वाल्मीकि से सुधीर सागर की बातचीत

(देश के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार, आत्मकथा 'जूठन' के चर्चित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि से वाल्मीकि समाज के आन्तरिक मुद्दों पर चर्चा)

सुधीर सागर: आपकी कहानियाँ वाल्मीकि समाज की समस्याओं को गंभीरता से उठाती हैं। सिर पर मैला ढोना एक त्रासदी है... इस समस्या को केंद्र में रखकर कोई कहानी लिखी है?

ओमप्रकाश वाल्मीकि: 'अम्मा' कहानी की 'अम्मा' जो केंद्रीय पात्र है, वह इसी पेशे से जुड़ी है। इस चरित्र के विकास और उसकी त्रासदी समूचे समाज की पीड़ा है, जिसे इस कहानी में उठाने की कोशिश की गयी है।

सुधीर सागर : सिर पर मैला ढोने का कार्य पुश्तैनी कैसे बना?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : भारतीय समाज व्यवस्था का निर्माण इसी तथ्य पर आधारित है। एक व्यक्ति को, जो भी यहां मिलता है, वह जन्म के आधार पर ही मिलता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इस समाज को भी 'वर्ण-व्यवस्था' का प्रकोप सहना पड़ा। हजारों साल की यातनाओं का यह सिलसिला अभी जारी है।

सुधीर सागर : वाल्मीकि समाज के लोग महर्षि वाल्मीकि को अपना गुरु मानते हैं। इस संदर्भ में आप क्या कहेंगे?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : ऐतिहासिक सन्दर्भों में जब इस तथ्य को ढूंढते हैं तो स्रोत सामग्री नहीं के बराबर है। कोई किसी को गुरु क्यों मानता है? यह उसका निजी मामला है। भारतीय समाज में चाहे तथाकथित ऊंची जाति के लोग हों या निम्न जाति के, उनके साथ कोई न कोई पौराणिक गुरु, ईश्वर, देवता, बाबा जुड़ा है। वाल्मीकि समाज ने बिना शिक्षा के एक लंबा समय गुजारा है, जहां उसके पास अपने इतिहास को रेखांकित कर पाना मुश्किल था। अशिक्षित व्यक्ति नामों तक के उच्चारण ठीक से नहीं कर पाता है, ऐसे में वह भला अपने पुरखों की यादों को कैसे सुरक्षित रख पाता। उसके लिए बालाशाह और वाल्मीकि में फर्क ही नहीं था। उसकी यादों की पर्तें खुलनी शुरू हुई हैं। जिनमें बहुत कुछ ऐसा है जो छिपा हुआ है। जब खुलेगा तो रहस्यों से पर्दे उठेंगे।

सुधीर सागर : सफाई कार्य से जुड़ी जातियां भंगी, मेहतर, वाल्मीकि के साथ और भी जातियां हैं। क्या वे भंगी जाति की उपजातियां हैं?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : अलग-अलग राज्यों में उनके नाम अलग हैं, जैसे पंजाब,

हरियाणा, उत्तर प्रदेश में चूहड़ा, वाल्मीकि, लालबेगी, गुजरात में मसोद, छजगही, हेला, मखियार, शेख हलालखोर, महाराष्ट्र में मलकाना, मेहतर, राजस्थान में मेघवाल, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश में डोम–डुमार, बंसोड़, धानुक आदि। जाति–उपजातियों में बंटा यह समाज कहीं हिन्दुओं से जुड़ा है तो कहीं इस्लाम से भी जुड़ा है।

सुधीर सागरः इस जाति की उत्पत्ति और विकास के विषय में कुछ बताइये ?

ओमप्रकाश वाल्मीकिः मेरी पुस्तक 'सफाई देवता' में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है। तीन हजार साल का यातनापूर्ण इतिहास है जिसे चंद शब्दों में बयान कर पाना संभव नहीं है। बुद्ध सुणीत को अपने धम्म में दीक्षा देते हैं। जैन धर्म में जिन पांच को दीक्षा देने की मनाही है, उसमें भी मल–मूत्र ढोने वाले का जिक्र है।

सुधीर सागर : गांधी–शताब्दी समारोह वर्ष 1967 में वाल्मीकि मुक्ति प्रकोष्ठ की स्थापना हुई, वह सफल क्यों नहीं हुआ ?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : इस प्रकोष्ठ से जुड़े लोगों की नीयत ही ठीक नहीं थी। अखबारों में नाम, फोटो छप गयी प्रकोष्ठ का काम हो गया। करोड़ों रुपये की योजनाएं कहां गयी ? कोई नहीं जानता। उनका उद्देश्य ही नहीं था कि यह समाज इन स्थितियों से बाहर आये क्योंकि इनके दर्द, इनकी पीड़ा से वे ठीक–ठीक से परिचित ही नहीं थे। योजनाएं सफल होती हैं ईमानदारी और समर्पण से, जो वहां नहीं था। पुनर्वास के जो कार्यक्रम थे, वे सिर्फ फाइलों में कैद थे। समाज के जो छुटभैये पिछलग्गू नेता थे, उनके भी अपने हित जुड़े थे। वे खामोशी से पिछलग्गू बने रहे। समाज पिसता रहा। आज भी वही हो रहा है, राजनीतिक दल चाहे जो भी हों, उनके चरित्र एक ही जैसे हैं। इसीलिए पुनर्वास कार्यक्रम सफल नहीं हुए।

सुधीर सागर : 'मैंला ढोने की प्रथा' शर्म का मुद्दा क्यों नहीं बना ?

ओमप्रकाश वाल्मीकिः इसे बनने नहीं दिया गया। यह षड्यन्त्र जो लगातार होता रहा है, जब भी आवाज उठी उसे दबाया गया। जो इसे छोड़ना चाहते थे, उनके सामने ऐसे हालात पैदा किये गये कि वे चाहकर भी नहीं छोड़ सके। कोई विकल्प उनके सामने बनने ही नहीं दिया गया। महात्मा गांधी ने अछूतोद्धार चलाया। लेकिन श्री वि.न. बर्वे ने अपनी रिपोर्ट में वस्तुस्थिति का जो चित्र खींचा है, वह इस अछूतोद्धार की सारी पोल–पट्टी खोल देता है– "दो बाल्टियों के शौचालयों की पद्धति साबरमती आश्रम में महात्मा गांधी ने शुरू की थी। जब तक गांधी जी आश्रम में रहे, तब तक बाल्टियां उठाने के लिये वहां भगियों की नियुक्ति कतई नहीं की गयी। आश्रमवासी ही यह काम करते थे। यही वहां का अनुशासन था। गांधी जी के बाद वह हरिजन आश्रम कहलाया जाने लगा। दो बाल्टियों वाले शौचालय तो वहां बरकरार रहे, किंतु सफाई के लिए अब वहां भंगी नियुक्त किये गये।" अस्पृश्यता की भावना ने इस समाज में हीनताबोध इतने गहरे तक भर दिया है कि उसकी चेतना ही जड़ हो

गयी है। विद्रोह के तमाम रास्ते उसके लिए बंद थे। उनके पास कोई विकल्प नहीं था। आर्थिक विपन्नता उन पर हावी थी।

सुधीर सागर : इस समाज से घृणा के कारण क्या हैं?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : यह प्रश्न मैंने स्वयं अनेक बार उठाया है, लेकिन उत्तर नहीं मिला। मेरी राय है कि कारण ऐतिहासिक हैं, जिसे धर्मग्रंथों ने विस्तार दिया है, एक धीमे जहर की तरह घृणा समाज में पैदा की है। जब तक इन धर्मग्रंथों का अस्तित्व है, घृणा बनी रहेगी। यदि यह घृणा पेशे के कारण थी, तो जो लोग पारंपरिक पेशे से बाहर हैं, सरकारी नौकरियों में ऊंचे पदों पर हैं, फिर उनसे घृणा क्यों? इसलिए यदि इस भावना की जड़ों को जानना है तो धर्म की जड़ों को देखो, जो दोहरे मानदंडों में जीता है और विनाश का कारण बना। महानता की तमाम दलीलें खोखली हैं।

सुधीर सागर : क्या वाल्मीकि स्त्रियां स्वतंत्र हैं?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : उच्च जातियों की स्त्रियों के मुकाबले में उन्हें ज्यादा अधिकार मिले हुए हैं। जब समाज में विधवा विवाह मान्य नहीं था, इस समाज में विधवा विवाह को मान्यता प्राप्त थी। पारिवारिक मामलों में स्त्री की राय मानी जाती है।

सुधीर सागर : छिटकी-बुंदगी क्या है?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : छिटकी-बुंदगी के आधार पर रिश्ते तय होते हैं। शादी-विवाह के लिए यह जरूरी है। समान छिटकी-बुंदगी छोड़कर रिश्ते तय होते हैं। एक ही छिटकी बुंदगी का अर्थ है एक ही वंश-गोत्र। यह एक निजी कोड है। बांदा जिले के आसपास इसका प्रचलन ज्यादा है। कहीं-कहीं माँ, पिता और दादी के वंश-गोत्र के आधार पर भी रिश्ते तय होते हैं। यह सामाजिक नियम है जिसे सभी मानते हैं। अपने ही वंश-गोत्र में विवाह नहीं होते है।

सुधीर सागर : भारतीय राजनीति में वाल्मीकियों की स्थिति क्या है?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : एक समय था जब वाल्मीकि समाज के ज्यादातर नेता कांग्रेस से जुड़े थे। लेकिन वहां लंबे समय तक जुड़े रहने के बाद भी जब उनकी ओर कांग्रेस ने ध्यान नहीं दिया तो वे वहां से छिटक कर अन्य दलों की ओर भी गये। मोहभंग की स्थिति में निराश कार्यकर्ता, नेता दिग्भ्रमित ही रहे हैं। लोकतंत्र में 'वोट' महत्वपूर्ण है, इसी के चलते राजनीतिक शक्ति बनती है। विचारधारा आज की राजनीति में दोयम दर्जे की चीज बनकर रह गयी है। प्रारंभ में सीढ़ियां चढ़ने में विचारधारा का मुखौटा काम आता है। बाद में जोड़-तोड़, समझौते हावी हो जाते हैं। इस समाज में राजनीतिक शक्ति इन अर्थों में कमजोर है। शायद 'वोट' शक्ति प्रभाव पैदा नहीं कर पा रही है।

सुधीर सागर : डॉ. धर्मवीर द्वारा सूरजपाल चौहान को लिखे पत्र में कहा गया है-

"मैंने एक सिद्धांत निकाला है कि मुझे भंगी या खटिक जाति के किसी भी लेखक से व्यक्तिगत संबंध नहीं रखना है। उसी के पालन में मैंने आपको खत नहीं भेजा", के अनुसार धर्मवीर दलित आन्दोलन में क्या भंगीवाद, चमारवाद फैला रहे हैं? इस संदर्भ में आपके क्या विचार हैं?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : धर्मवीर के इस पत्र की चर्चा तो सुनी थी, लेकिन मैंने यह पत्र नहीं देखा है। न किसी पत्रिका में छपा है। यदि छपा भी है तो मेरी नजर में नहीं आया है। इसलिए इस पर मैं क्या कहूं? सूरजपाल चौहान और धर्मवीर जी के बीच जो भी है, इस पर वे ही ज्यादा प्रकाश डाल सकते हैं। इसलिए इसका उत्तर उनसे पूछना चाहिये। मेरे धर्मवीर से व्यक्तिगत संबंध कभी नहीं रहे हैं, इसलिए मेरे लिये कुछ भी कहना संभव नहीं है।

सुधीर सागर : वाल्मीकि समाज के लोग वैकल्पिक रोजगार क्यों नहीं अपनाते ?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : आप कोई वैकल्पिक रोजगार दिलाइये। देखिये वे उसे अपनाते हैं या नहीं ?

सुधीर सागर : ये लोग राष्ट्र विकास की 'मुख्यधारा' से वंचित क्यों हैं?

ओमप्रकाश वाल्मीकि : 'मुख्यधारा' शब्द बेहद दिग्भ्रमित करने वाला शब्द है, जिसे आप मुख्यधारा कह रहे हैं, वह ब्राह्मणवादी धारा है, जो गैर बराबरी पर आधारित है। इसलिए उससे वंचित रहना ही ज्यादा बेहतर है क्योंकि भारत ब्राह्मणीकरण से मुक्त होकर ही सही अर्थों में स्वतंत्र होगा। असमानता नहीं, समानता की जरूरत है। मुख्यधारा का विकास, राजनीति, साहित्य, 'छद्म राष्ट्रवाद' की दलदल में फंस गया है। उसे बाहर निकालने की कोशिश जरूरी है तभी मुख्यधारा के संदर्भों को ठीक-ठीक समझा जा सकता है। ❑

ओमप्रकाश वाल्मीकि के महत्वपूर्ण कथन

- दलित शब्द एक क्रांतिकारी शब्द है, जिसने समाज को एक साथ जोड़ दिया है और ये जाति वाचक शब्द नहीं है समूहवाचक शब्द है। इसने समूची भीड़ को इकट्ठा कर सबको एक जात बनाया है। ये सामाजिक चेतना का परिचायक है।
- डॉ. आंबेडकर दलित साहित्य के लिए सूर्य-पुँज है, जहां से दलित लेखक शक्ति ग्रहण करता है, वैचारिक आधार हासिल करता है।
- मेरे अनुभव और विश्वास कहते हैं कि 'धर्म' ने मनुष्य को दासत्व की मानसिकता दी है। उसकी स्वतंत्रता की लड़ाई धर्म ने कभी नहीं लड़ी। मनुष्य के विकास में वह हमेशा बाधक रहा है। इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा, जहाँ मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए धर्म लड़ा हो या संघर्ष किया हो।
- दलित साहित्य उस शोषित, पीड़ित व्यक्ति की अभिव्यक्ति है जो सामाजिक व्यवस्था में सबसे निचली पायदान पर है।
- लेखकों, बुद्धिजीवियों को यदि जीवन को बेहतर बनाने की परिकल्पना को साकार करना है, तो बंद कमरों और राजधानियों से बाहर निकलकर, जन आन्दोलनों से जुड़ने के विषय में गंभीरता से सोचना होगा। तभी 'शब्द' की आंच का सही-सही अर्थ व्याख्यायित होगा नहीं तो साहित्य का लिजलिजापन ही उसकी मौत का कारण बनेगा।
- भारतीय समाज-व्यवस्था की असमानता पर आधारित जीवन की विषमताओं, विसंगतियों के बीच से दलित कविता का जन्म हुआ है। जो नकार, विद्रोह और संघर्ष की चेतना के साथ सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्ध है, वह जीवन-मूल्यों की पक्षधर है।
- जिन रचनाओं में आंबेडकर के जीवन-दर्शन से ऊर्जा ग्रहण कर करनेवाली 'दलित चेतना' का विकास होगा, वही दलित साहित्य है।
- मेरा यह मानना है कि दलित साहित्य जातिवाद का विरोध करता है वह चाहें दलितों के बीच का जातिवाद हो या गैर दलितों के बीच जातिवाद।
- दलित साहित्य नकार का साहित्य है, जो संघर्षो से उपजा है तथा जिसमे समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्णव्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध है।
- दलित आत्मकथा अतीत की सिर्फ स्मृतियाँ नहीं हैं। ये समाज-व्यवस्था की अमानवीयता को समझने का स्रोत भी हैं। जो पाठकों की चेतना का नवनिर्माण करने में सहायक होती हैं।
- एक कवि के रूप में मेरी कोशिश है कि इस भयावह त्रासदी से मनुष्य स्वतंत्र होकर प्रेम और भाईचारे की ओर कदम बढ़ाए, जिसका अभाव हजारों साल से साहित्य और समाज में दिखाई दे रहा है।
- साहित्य के बीच भी एक सत्ता है, जो अंकुरित होते पौधों को कुचल देती है।
- मैं यह मानता हूं कि दलित रचनाकारों को लेखन के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय होना चाहिए। तभी दलित आंदोलन सही दिशा में जायेगा।
- एक रचनाकार को समाज के प्रत्येक कोने में झांकना होता है। दलित रचनाकार की जिम्मेदारी कुछ ज्यादा ही है। इसलिए उसे सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक षड्यंत्र पर पैनी नजर रखना जरूरी है।
- मुझे सबसे ज्यादा खुशी उस रोज होगी, जब सबसे निचली पायदान पर खड़े व्यक्ति के चेहरे पर आत्मविश्वास से भरी मुस्कान होगी। यह कोई राजनीतिक नारा नहीं है। एक संघर्षशील रचनाकार की आंतरिक भावना है। ❑

ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ

- मैं ओमप्रकाश वाल्मीकि के 'सदियों के संताप' कविता संग्रह को ही दलित आंदोलन का घोषणा-पत्र मानता हूँ। – **कंवल भारती**
- सलाम कहानी ब्राह्मणवाद के विरोध की कहानी है। – **राजेंद्र यादव**
- बस्स ! बहुत हो चुका संग्रह की प्रत्येक कविता सामाजिक परिवर्तन की जिजीविषा को सशक्त अभिव्यक्ति देती है। – **प्रेमचन्द गाँधी**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि जी जैसे व्यक्ति एक सोच होते हैं जो कभी खत्म नहीं हो सकती, आना-जाना तो लगा रहता हैं। – **जयश्री राय**
- बस्स ! बहुत हो चुका कविता संग्रह की हर कविता मेरा बयान लगती है। मेरी पीड़ा और प्रश्न इन कविताओं में दिखाई दिये। – **शरणकुमार लिंबाले**
- सचमुच बस्स ! बहुत हो चुका संग्रह की कविताएँ ज्वालामुखी बनकर सदियों का सन्ताप उगल रही हैं और एक नयी सोच को जन्म दे रही हैं। – **डॉ. श्याम सिंह शशि**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ दलित जीवन की व्यथा के चित्रण के साथ शोषित पीड़ित दलित वर्ग को प्रगति और परिवर्तन का संदेश देने वाली कहानियाँ है।

  – **डॉ. सुशीला टाकभौरें**
- वाल्मीकि ने दलित लेखन को हिंदी साहित्यिक मानचित्र पर स्थापित किया। वह हिंदी में व्यापक पहचान पाने वाले पहले दलित लेखकों में से थे। – **मृदुला गर्ग**
- 'जूठन' इन्सानियत की पक्षधरता का दस्तावेज है। यह शोषक और शोषित दोनों की आँख खोलने वाला है। शोषक अपने गिरेबान में देख लें और अपने बारे में खुद तय करें कि उन्हें इन्सान कहा जाए या हैवान। शोषित यह देख सकते हैं कि उनका अतीत, वर्तमान कैसा है और भविष्य के लिए वे क्या कर सकते हैं। – **शिवबाबू मिश्र**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य मुक्ति का आख्यान हैं। मृत्यु तथा प्रतड़ना के खिलाफ जीवन का उत्सव हैं। – **दिलीप मंडल**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियाँ समाज की उस कठोर सच्चाई को उघाड़ती है जिसमें सड़ांध भरी हुई है और लोग उसे देखना नहीं चाहते थे। –**डॉ. राजेश पाल**
- अपने साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने कई पात्र सृजित किये हैं, कई नायक गढ़े, जो दलित समाज की आशा, विश्वास और संघर्ष के प्रतीक हैं। दलित अस्मिता को पहचान दिलाते हुए इन नायकों को गढ़ने वाले ओमप्रकाश वाल्मीकि वास्तव में हिन्दी दलित साहित्य के महानायक हैं और नायक कभी नहीं मरते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि भी अपनी रचनाओं के माध्यम से सदैव हमारे बीच रहेंगे। – **डॉ. जयप्रकाश कर्दम**

- ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ सचमुच सत्य का अहसास कराती है।

– आर.एच. वणकर

- सचमुच 'जूठन' को पढ़ना एक ऐसी गहरी सुरंग से गुजरना है जिसकी दीवार पर लम्बे-लम्बे दाँतों वाले मुखौटे गड़े हुए हैं। 'जूठन' को पढ़ना महज एक दलित लेखक की आत्मकथा पढ़ना भर नहीं है बल्कि प्राचीन ग्रंथों में उकेर दिए गए 'स्मृतियों' का वाचन-मनन है जो आज भी ओमप्रकाश वाल्मीकियों का पीछा नहीं छोड़ रहे हैं। **– भगवानदास मोरवाल**
- दलित साहित्य के इस पुरोधा की खासियत यह रही कि उन्होंने साहित्य जगत में एक नई दुनिया की तलाश नहीं की, बल्कि सैंकड़ो वर्षो से द्विज साहित्य जिन सच्चाइयों को छुपाने का प्रयास कर रहा था, उसे साहसिक तरीके से सार्वजनिक किया। **– प्रो. जय कौशल**
- 'जूठन' आत्मकथा दलित समाज की विशेष रूप से वाल्मीकि समाज की पीड़ाओं, संघर्षो, क्रान्ति एवं मुक्ति के मार्ग का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है जो सदियों से प्रचलित भारतीय वर्ण-व्यवस्था के क्रूर अमानवीय रूप का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देता है।

– प्रो. धर्मपाल पीहल

- ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी यात्रा में दलित समाज का यथार्थ व्यक्त हुआ है। उनकी कहानियाँ भारतीय समाज की विसंगतियों, विषमताओं तथा अन्याय का उद्‌घाटन करती हैं।

– डॉ. रमेश कुमार

- कथाकार के रूप में भी उन्होंने अपनी छाप छोड़ी है और हिन्दी साहित्य में अपना एक अलग और महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। सच तो यह है कि उनकी कहानियाँ शिल्प के दृष्टिकोण से हिन्दी के किसी भी बड़े कथाकार की तुलना में रखी जा सकती है। **– डॉ. एन. सिंह**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि कबीर की परम्परा के कवि हैं। कबीर की तरह उनकी कविताएँ प्रश्न करती हैं और सदियों से चली आ रही वर्णवादी सामाजिक व्यवस्था में निहित असमानता और अन्याय के खिलाफ विद्रोह करती है। उनकी कविता में बदले की भावना नहीं बल्कि बदलाव की चेतना है। **– प्रो. रविकान्त**
- हिंदी साहित्य में आंबेडकरवाद की समाज विश्लेषण की सटीक पद्धति को लाने का श्रेय ओमप्रकाश वाल्मीकि को जाता है। उनकी रचनाओं में स्पष्टता, निर्भीकता, प्रश्नाकुलता और दोटुकपन वस्तुत: आंबेडकर की वैचारिकी से ही आया है। **– डॉ. गुलाब**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि अंबेडकरवादी दृष्टि और सुनियोजित रणनीति के साथ लेखन करते रहे। उनकी आलोचना दृष्टि, रचनात्मक लेखन, भाषण और प्रश्नोत्तरों को समझे बगैर उन्हें संपूर्णता में नहीं समझा जा सकता है। **– प्रो. रामचंद्र**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाएँ शोषण को चेतावनी और चुनौती देती है जिन्हें पढ़कर सहज ही अन्याय के प्रति आक्रोश, विद्रोह और प्रतिकार जन्म लेता है। मगर रचनाएँ किसी हिंसा और अन्याय करने का समर्थन नहीं करती, बल्कि लोकतांत्रिक विचारों की गूँज पैदा करती है।

– प्रो. अजमेर सिंह काजल

- ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'दलित साहित्य' को स्थापित करने में अपनी पूरी ताकत के साथ लेखन कार्य किया है। उनकी रचनाओं में सृजनात्मक कौशल, परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा, ब्राह्मणवाद पर तीव्रतम प्रहार, बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर जी के प्रति अटूट श्रद्धा, भारतीय समाज में समरसता, भाईचारा तथा मैत्रीभाव की प्रतिष्ठा, मुख्य रूप से मुखरित तथा अभिव्यंजित हुई है। वे एक प्रतिबद्ध तथा आन्दोलनधर्मी योद्धा लेखक थे।

  – **प्रो. कालीचरण 'स्नेही'**
- पूड़ी के सुखायें टुकड़ों को बरसात के दिनों में भिगोकर और उबालकर खाने का दंश जिस लेखक ने झेला हो, 'जूठन' उसी की अमर कृति हो सकती है। ओमप्रकाश वाल्मीकि हिंदी साहित्य में दलित और महादलित के स्वर थे। – **सुभाष चन्द्र कुशवाहा**
- मेरी दृष्टि में ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी दलित साहित्य में अपनी पीढ़ी में अकेले ऐसे लेखक थे जिन्होंने अपनी कहानियों एवं कविताओं में कथ्य और शिल्प पर खास ध्यान दिया है। उनके लेखन की बुनावट बहुत बारीक है। – **डॉ. महेंद्र सिंह बेनीवाल**
- 'जूठन' केवल वाल्मीकि जी की आत्मकथा नहीं है बल्कि वह भारत के पूरे दलित समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है। वाल्मीकि जी रचनात्मक यथार्थ की एक बड़ी शख्सियत थे।

  – **जयप्रकाश लीलवान**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाएँ दलित समाज का दस्तावेज हैं। शोषण, अन्याय, अत्याचार और अपमान जैसे शब्द एक आम पाठक के लिए उस वक्त जीवंत हो उठते होंगे, जब वह ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचनाओं से गुजरता होगा ...क्षोभ और संवेदना, प्रतिरोध और सर्जना का अनूठा संगम है ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य। वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था के शोषण से मुक्ति की छटपटाहट उनकी रचनाओं में, शरीर में प्राण सरीखी है।

  – **डॉ. माया गोला**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की कहानियों को पढ़ते हुए महसूस होता है कि ये कहानियाँ कहीं न कहीं मेरे जीवन से सरोकार रखती हैं। – **डॉ. दीपक मेवाती**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि जी को पढ़ना अपने दर्द, अपनी पीड़ा से रूबरू होना है; कहीं-कहीं तो यह लगता है कि यह सब मेरे साथ ही घटित हो रहा है या हुआ है। जब यही दर्द, यही छटपटाहट वर्तमान में दलित साहित्य के लेखन में देखता हूँ तो लगता है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की भावाभिव्यक्ति उनकी कलम में मौजूद है। ऐसी सशक्त और दर्दनीय अभिव्यक्ति के माध्यम से हिंदी साहित्य में दलित साहित्य की प्रतिस्थापन करने वाले साहित्य के पुरोधा का शिल्प और कथ्य हमेशा प्रभावित करता है। – **श्याम निर्मोही**
- ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताएँ मुझे हिम्मत प्रदान करती है। – **डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि**

कविताएँ

ठाकुर का कुआँ

चूल्हा मिट्टी का
मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का।

भूख रोटी की
रोटी बाजरे की
बाजरा खेत का
खेत ठाकुर का।

बैल ठाकुर का
हल ठाकुर का
हल की मूठ पर हथेली अपनी
फसल ठाकुर की।

कुआँ ठाकुर का
पानी ठाकुर का
खेत-खलिहान ठाकुर के
गली-मुहल्ले ठाकुर के
फिर अपना क्या ?
गाँव ?
शहर ?
देश ? (नवंबर, 1981)

भूख

भूख में आदमी
पेड़ की तरह हिलता है
हवा की तरह चलता है
पेट की आग में झुलसकर
राख की तरह
ठण्डा हो जाता है।

बस्स ! बहुत हो चुका

जब भी देखता हूँ मैं
झाड़ू या गन्दगी से भरी बाल्टी-कनस्तर
किसी हाथ में
मेरी रगों में
दहकने लगते हैं
यातनाओं के कई हजार वर्ष एक साथ
जो फैले हैं इस धरती पर
ठंडे रेतकणों की तरह।

मेरी हथेलियाँ भीग-भीग जाती हैं
पसीने से
आँखों में उतर आता है
इतिहास का स्याहपन
अपनी आत्मघाती कुटिलताओं के साथ।

झाड़ू थामे हाथों की सरसराहट
साफ सुनाई पड़ती है भीड़ के बीच
बियाबान जंगल में सनसनाती हवा की
तरह।

वे तमाम वर्ष
वृत्ताकार होकर घूमते हैं
करते हैं छलनी लगातार
उँगलियों और हथेलियों को
नस-नस में समा जाता है ठंडा-ताप।

गहरी पथरीली नदी में
असंख्य मूक पीड़ाएँ

कसमसा रही हैं
मुखर होने के लिए रोष से भरी हुई।

बस्स !
बहुत हो चुका
चुप रहना
निरर्थक पड़े पत्थर
अब काम आयेंगे संतप्त जनों के !

चोट

पथरीली चट्टान पर
हथौड़े की चोट
चिंगारी को जन्म देती है
जो गाहे-बगाहे आग बन जाती है
आग में तपकर
लोहा नर्म पड़ जाता है
ढल जाता है
मनचाहे आकार में
हथौड़े की चोट से।
एक तुम हो,
जिस पर किसी चोट का
असर नहीं होता। (फरवरी, 1985)

झाड़ू वाली

सुबह पांच बजे
हाथ में थामे झाड़ू
घर से निकल पड़ती है
रामेसरी
लोहे की हाथ गाड़ी धकेलते हुए
खडंग-खड़ांग की कर्कश आवाज
टकराती है
शहर की उनींदी दीवारों से
गुजरती है
सुनसान पड़े चौराहों से
करती हुई ऐलान
जागो !
पूरब दिशा में लाल-लाल सूर्य
उगने वाला है।

नगरपालिका की सुनसान सड़कें
धुंधलकों की जमात में
टिमटिमाते इक्का-दुक्का तारे
कान पर जनेऊ लपेटे
गुनगुनाते स्वर में
श्लोक रटता हुआ पास से गुजरता
पंडित
चाय की दुकान के फट्टे पर
चीकट मटमैली चादर में लिपटा ऊँघता
नौकर
भट्टी के पास लेटा कुनमुनाता झबरा
कुत्ता
चौंकते हैं
पास से गुजरती
लोहे के हाथ गाड़ी की आवाज पर
कोसते हैं जी भर कर।

रामेसरी के हाथ में थमी बांस की मोटी
झाड़ू
सड़क के उबड़-खाबड़ सीने पर
श्च-श्च की ध्वनि से तैरती है
उड़ाती है धूल का गुबार।
धूल : जो सैकड़ों वर्षों से
जम रही है पर्त-दर-पर्त
फेफड़ों में रामेसरी के
रंग रही है श्वास नली को
चिमनी-सा
कारखाने से उठते धुएं-सा।
सब कुछ मिलाकर
एक खाका उभरता है
जो जिन्दगी की क्रूरता का नमूना है।

जिसमें छोटे-छोटे बच्चों का
अनवरत सिलसिला है
जिन्हें लील जाती है
गन्दगी से उठती दुर्गन्ध
और, वे न जाने कब बड़े होकर
गन्दगी के इस शहर में दुर्गन्ध बन जाते
हैं।
फिर एक दिन, जब
रामेसरी की खुरदरी हथेली हो जाती है
असमर्थ
हाथ गाड़ी को धकेलने में
छोटे-छोटे हाथ
सड़क तक लाते हैं
धकेलकर गाड़ी को,
बदले में पाकर असंख्य जख्म भी
खामोश रह जाते हैं
ढोते हैं
जिन्दगी का भार उसी तरह
जैसे ढोते रहे हैं इनके पुरखे।
चेहरे पर कुछ लकीरें हैं
जो वक्त ने उकेरी है।

साल-दर-साल गुजरते हैं
दीवारों पर चिपके चुनावी पोस्टर
मुंह चिढ़ाते हैं।
जब तक रामेसरी के हाथ में
खड़ांग-खांग घिसटती लौह गाड़ी है
मेरे देश का लोकतंत्र
एक गाली है ! (सितम्बर, 1988)

वे भूखे हैं

वे भूखे हैं
पर आदमी का माँस नहीं खाते
प्यासे हैं
पर लहू नहीं पीते
नंगे हैं
पर दूसरों को नंगा नहीं करते
उनके सिर पर
छत नहीं है
पर दूसरों के लिए
छत बनाते हैं।

पत्थर

छू भर लेने से
पत्थर को
महसूस किया नहीं जा सकता
क्योंकि,
छिपा होता है
खुरदरा एहसास
चिकनी सतह के भीतर।

पत्थर : किसी भी मजबूत चोट से
दे देता है जन्म एक चिंगारी को
टूट कर बिखर जाने से पहले।

चिंगारी : जो बदल सकती है
अंधेरे को उजाले में
या कर सकती है
पुनर्जीवित
किसी भी ठंडे चूल्हे को।

सही हाथ में पड़ते ही पत्थर
इतिहास रच लेता है
या फिर तोड़ देता है
शीशे के उन घोंसलों को
जहां से कोई महीन आवाज
मुझे सुनायी नहीं देती।

मैं, पत्थर हो सकता हूं
तुम्हारी उनकी और सबकी

असलियत समझने के लिए।

वह मैं हूँ !

मुँह-अँधेरे बुहारी गयी सड़क में
जो चमक है-
वह मैं हूँ !

कुशल हाथों से तराशे
खिलौने देखकर
पुलकित होते हैं बच्चे
बच्चे के चेहरे पर जो पुलक है-
वह मैं हूँ !

खेत की माटी में
उगते अन्न की खुशबू-
मैं हूँ !

जिसे झाड़-पोंछकर
भेज देते हैं वे
उनके घरों में
भूलकर अपने घरों के
भूख से बिलबिलाते बच्चों का रुदन
रुदन में जो भूख है-
वह मैं हूँ !

प्रताड़ित-शोषित जनों के
क्षत-विक्षत चेहरों पर
घावों की तरह चिपके हैं
सन्ताप भरे दिन
उन चेहरों में शेष बची हैं
जो उम्मीदें अभी-
वह मैं हूँ !

पेड़ों में
नदी का जल
धूप-हवा में
श्रमिक-शोणित गंध
बाढ़ में बह गयी झोंपड़ी का दर्द
सूखे में दरकती धरती का बाँझपन
वह मैं हूँ
सिर्फ मैं हूँ !!!

सदियों का संताप

दोस्तो,
बिता दिये हमने हजारों वर्ष
इस इंतजार में
कि भयानक त्रासदी का युग
अधबनी इमारत के मलबे में
दबा दिया जायेगा किसी दिन
जहरीले पंजों समेत।
फिर हम सब
एक जगह खडे होकर
हथेलियों पर उतार सकेंगे
एक-एक सूर्य
जो हमारी रक्त-शिराओं में
हजारों परमाणु क्षमताओं की ऊर्जा
समाहित करके
धरती को अभिशाप से मुक्त करायेगा !

इसीलिए, हमने अपनी समूची घृणा को
पारदर्शी पत्तों में लपेटकर
ठूँठे वृक्ष की नंगी टहनियों पर
टाँग दिया है
ताकि आने वाले समय में
ताजे लहू से महकती सड़कों पर
नंगे पाँव दौड़ते
सख़्त चेहरों वाले साँवले बच्चे
देख सकें
कर सकें प्यार
दुश्मनों के बच्चों से

अतीत की गहनतम् पीड़ा को भूलकर।

हमने अपनी उँगलियों के किनारों पर
दु:स्वप्न की आँच को
असंख्य बार सहा है
ताजा चुभी फाँस की तरह
और अपने ही घरों में
संकीर्ण पतली गलियों में
कुनमुनाती गंदगी से
टखनों तक सने पाँव में
सुना है
दहाड़ती आवाजों को
किसी चीख़ की मानिंद
जो हमारे हृदय से
मस्तिष्क तक का सफर तय करने में
थक कर सो गयी है।

दोस्तो,
इस चीख़ को जगाकर पूछो
कि अभी और कितने दिन
इसी तरह गुमसुम रहकर
सदियों का संताप सहना है !

भोपाल-कांड

गाँव और शहर के बीच
पसरी कंटीली झाड़ियाँ
कर देती हैं दिशाहीन
हर एक पगडंडी को

सूरज की तपिश उकेरने लगती है
अनचीन्हे संकेतों में
शिलालेख
हवाओं के सीने पर

'सीवर-लाईन' के 'मेन-होल' में
दम तोड़ते बल्लू की
घुटती सांसें खो जाती हैं
गुमनाम
वैसे ही जैसे नगर निगम की
ट्रैक्टर-ट्राली से
रात-भर ढोते मैला
खो जाते हैं खामोशी से
न जाने कितने कल्लू और रमेसर

चले जाते हैं
अजानी राहों पर
बिना कुछ कहे ही।

अखबार का दफ्तर भी
हो जाता है गूंगा-बहरा
या थक कर ऊंघता रहता है

रात भर जागा है
'ब्यूटी-क्वीन' प्रतियोगिता में
जिसका उत्तेजक, मादक संगीत
अभी तक गूंज रहा है कानों में

विदेशी सोमरस की खुमारी अभी बाकी
है
इसलिए,
मुश्किल होता है
सुन पाना बल्लू, कल्लू और रमेसर की
रुंधी आवाजें
और,
वैसे भी अभी
तैयार करनी है
मुख्यमंत्री के धार्मिक दौरे की रिपोर्ट
ढक लिया है अपनी आगोश में
काली धुंध ने
हर एक सांस को
गाड़ियों का धुआं रच-बस गया है

फेफड़ों में
चाह कर भी नही बदल पाएगा
सुबह और शाम का चक्र

मुश्किल हो गया है
अलग-अलग पहचान पाना
धूप और अंधेरे को

आँखों में किरकिराता है
रेतीला अंधड़
मोतियाबिंद बन कर
खो गयी है गाँव और शहर के बीच की
पगडंडी

कठिन हो गया है
अंतर करना रंगों में
दिशाहीनता के इस
स्याह-युग में
कहना -
स्याह को स्याह
पीले को पीला
लाल को लाल
नीले को नीला

ले आए हैं
अंधेरे की बाढ़
नए-नए चोले पहन कर
असंख्य बाबा, योगी और गुरु

स्याह डामर रोड पर दौड़ रहा है
रिश्तों का विषैला धुआं
जो किसी भी रोज देखते ही देखते
बदल जाएगा
भोपाल-कांड में !
(13 सितंबर, 2010)

तब तुम क्या करोगे ?

यदि तुम्हें,
धकेलकर गाँव से बाहर कर दिया जाये
पानी तक न लेने दिया जाये कुएं से
दुत्कारा-फटकारा जाये
चिलचिलाती दोपहर में
कहा जाये तोड़ने को पत्थर
काम के बदले
दिया जाये खाने को जूठन
तब तुम क्या करोगे?

यदि तुम्हें,
मरे जानवर को खींचकर
ले जाने के लिए कहा जाये
और,
कहा जाये ढोने को
पूरे परिवार का मैला
पहनने को दी जाए उतरन
तब तुम क्या करोगे ?

यदि तुम्हें,
पुस्तकों से दूर रखा जाये
जाने नहीं दिया जाये
विद्या मंदिर की चौखट तक
ढिबरी की मंद रोशनी में
कालिख पुती दीवारों पर
ईसा की तरह टांग दिया जाये
तब तुम क्या करोगे?

यदि तुम्हें,
रहने को दिया जाये
फूँस का कच्चा घर
वक्त-बे-वक्त फूंक कर जिसे
स्वाहा कर दिया जाये
बरसात की रातों में

घुटने-घुटने पानी में
सोने को कहा जाये
तब तुम क्या करोगे?

यदि तुम्हें,
नदी के तेज बहाव में
उल्टा बहना पड़े
दर्द का दरवाजा खोलकर
भूख से जूझना पड़े
भेजना पड़े नयी-नवेली दुल्हन को
पहली रात ठाकुर की हवेली
तब तुम क्या करोगे?

यदि तुम्हें,
अपने ही देश में नकार दिया जाये
मानकर बंधुआ
छीन लिये जायें अधिकार सभी
जला दी जाये समूची सभ्यता तुम्हारी
नोच-नोच कर
फेंक दिए जायें
गौरवमय इतिहास के पृष्ठ तुम्हारे
तब तुम क्या करोगे?

यदि तुम्हें,
वोट डालने से रोका जाये
कर दिया जाये लहूलुहान
पीट-पीटकर लोकतंत्र के नाम पर
कदम-कदम पर
याद दिलाया जाये जाति का ओछापन
दुर्गन्ध भरा हो जीवन
हाथ में पड़ गये हों छाले
फिर भी कहा जाये
खोदो नदी नाले
तब तुम क्या करोगे?

यदि तुम्हें,
सरेआम बेइज्जत किया जाये
छीन ली जाये संपत्ति तुम्हारी
धर्म के नाम पर
कहा जाये बनने को देवदासी
तुम्हारी स्त्रियों को
करायी जाये उनसे वेश्यावृत्ति
तब तुम क्या करोगे?

साफ-सुथरा रंग तुम्हारा
झुलसकर सांवला पड़ जायेगा
खो जायेगा आँखों का सलोनापन
तब तुम कागज पर
नहीं लिख पाओगे
सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् !
देवी-देवताओं के वंशज तुम
हो जाओगे लूले-लंगड़े और अपाहिज
जो जीना पड़ जाये युगों-युगों तक
मेरी तरह?
तब तुम क्या करोगे? (सितंबर, 1988)

मुट्ठी भर चावल

अरे, मेरे प्रताड़ित पुरखों
तुम्हारी स्मृतियाँ
इस बंजर धरती के सीने पर
अभी जिन्दा हैं
अपने हरेपन के साथ।

तुम्हारी पीठ पर
चोट के नीले गहरे निशान
तुम्हारे साहस और धैर्य को
भुला नहीं पाये हैं अभी तक।

सख्त हाथों पर पड़ी खरोंचें
रिसते लहू के साथ
विरासत में दे गयी हैं

ढेर-सी यातनाएँ
जो उगानी हैं मुझे इस धरती पर
हरे-नीले-लाल फूलों में।

बस्तियों से खदेड़े गये
ओ, मेरे पुरखो
तुम चुप रहे उन रातों में
जब तुम्हें प्रेम करना था
आलिंगन में बाँधकर,
अपनी पत्नियों को।

तुम तलाशते रहे
मुट्ठी भर चावल
सपने गिरवी रखकर।

ओ, मेरे अज्ञात, अनाम पुरखो
तुम्हारे मूक शब्द
जल रहे हैं
दहकती राख की तरह
राख : जो लगातार काँप रही है
रोष में भरी हुई।

मैं जानना चाहता हूँ
तुम्हारी गन्ध...
तुम्हारे शब्द...
तुम्हारा भय...
जो तमाम हवाओं के बीच भी
जल रहे हैं
दीये की तरह युगों-युगों से!

एक और युद्ध

जब-जब भी तुम कोशिश करते हो
आदमी बनने की
वे चौकन्ने होकर
लग जाते हैं तैयारी में
एक और युद्ध की
सीधे खड़े होकर
आसमान की ओर ताकना
उन्हें गवारा नहीं

वे नहीं चाहते तुम वह सब करो
जो किया था निषेध तुम्हारे लिए
उनके पुरखों ने

वे हँसते हैं
तुम्हारे बोलने के ढंग पर
वे चिढ़ते हैं
तुम्हारे गुनगुनाने पर
वे सख्त नाराज़ हैं
तुम्हारी बेबाक अभिव्यक्ति पर

वे बेहद खुश हैं
उस आदमी से
जो खड़ा है सिर झुकाये,
उनकी भीड़ में
जिसे जब चाहें
करते हैं इस्तेमाल
निर्जीव, जड़ पदार्थ की तरह

तुम्हारे बच्चों का नंगापन
उन्हें अश्लील नहीं लगता
बुरा भी नहीं लगता
तुम्हारी स्त्रियों के अंगों को
गाली की तरह प्रयोग करना

बुरा लगता है उन्हें
जब तुम उनकी गाली को
अपनी भाषा में
इस्तेमाल कर उछालते हो
पत्थर की तरह
उनकी ओर विरोध में

उनके साफ–सुथरे घरों में
तुम्हारा प्रवेश निषेध है

तुम्हारे चेहरों की खुशी में
उन्हें अपनी हार दीख पड़ती है
उनके ज़हरीले पंजे गड़ जाते हैं
तुम्हारे जिस्म में

नदी–नाले रक्त से भरे
सींचते हैं उनके खेत
दर्द से कराहती है धरती
हवा में नहीं गूँजता संगीत
बास आती है
लाशों के सड़ने की

जंगली भेड़िये पढ़ रहे हैं
धर्म शास्त्र
रच रहे हैं
निषेधात्मक नियम
उपनियम और धाराएँ
बदल रहे हैं अर्थ अपने अनुसार

ऐसे माहौल में
तुम जब भी करते हो कोशिश
आदमी बनने की
वे लग जाते हैं तैयारी में
एक और युद्ध की!

वे भयभीत हैं

वे भयभीत हैं
इतने
कि देखते ही कोई किताब
मेरे हाथों में
हो जाते हैं चौकन्ने
बजने लगता है खतरे का सायरन
उनके मस्तिष्क और सीने में
करने लगते हैं एलान
गोलबन्द होने का।

वे भयभीत हैं
इतने कि समझने लगते हैं
आँधी
मेरे उच्छ्‌वासों को
जो बढ़ रहे हैं लगातार
उनके बन्द किले की ओर
जहाँ सुरक्षित हैं वे
फिर भी भयभीत हैं।

ढूँढ़ना चाहता हूँ मैं
बन्द किताब के पन्नों में
अपनी साँसें
स्याह अक्षर चुप्पी साधे
देख रहे हैं कनखियों से
सन्नाटों में डूबे किले की ओर।

खामोशी मुझे भयभीत नहीं करती।
मैं चाहता हूँ
शब्द चुप्पी तोड़ें
सच को सच
झूठ को झूठ कहें !

शब्दजीवी

मेरे प्रदेश का शब्दजीवी
जात–पांत नहीं मानता
ऐलान करता है
डंके की चोट पर

कहता है–
'घरों में सफाई करने वाली औरत
या प्रसव कराने वाली दाई तक को
हम अम्मा, चाची, बुआ, दादी
कहते हैं

यही संस्कृति है
यही रीत है'

ऐसा कहते हुए
उन्हें याद नहीं रहता
कि अम्मा, चाची, बुआ, दादी
जब काम खत्म करके
लौट जाती हैं
घर-आंगन ही नहीं
बाहर का रास्ता भी
धोया जाता है गंगाजल से

फिर भी मेरे प्रदेश का शब्दजीवी
ऐलान करता है
कि वह जात-पांत नहीं मानता
गाँव, दिशाएँ, नदी, नाले
पोखर, जल-स्रोत
सभी कुछ बंटा है
जन्मना जाति आधार पर

मेरे प्रदेश में
जब लुटती है किसी दलित की बारात
मेरे प्रदेश का शब्दजीवी
मौन धारण कर लेता है
भूल जाता है पढ़ना अखबार
निकल जाता है चारों धाम की यात्रा पर

घर की खिड़कियां
पारदर्शी हैं
जिनके शीशों पर चढ़ी है सांवले रंग की
ऐसी फिल्म
जो भीतर से बाहर का दृश्य दिखाती है
साफ-साफ
लेकिन बाहर वाले को
भीतर सिर्फ गहरा काला रंग दिखाई देता
है

जहां,
'जाति' सीनों में धंसी बैठी है
एक विषैली सर्पिणी की तरह
जो फुंकारती है
समय-समय पर
घातक वार करती है
छिप-छिप कर

'जाति' एक अंधेरा है
जो बदल गई है
ऐसी दरार में
जिसने दरकाया है
रिश्तों को सदियों से

एक को दी है मुखरता
भाषा की
दूसरे को चुप्पी दहशत की
जिसने खो दिए हैं
शब्दों के अर्थ
हजारों साल के भूस्खलन में दब कर

पीढ़ियों का लेखा-जोखा रखना
जिनके वश में नहीं था
हर साँस पर पहरा था
ऊँच-नीच का
जो डरता था
अपने ही उच्छ्वास से
रात इतनी गहरी
कि खत्म होने का नाम नहीं लेती
फिर भी,
मेरे प्रदेश का शब्दजीवी
इनकार करता है
जात-पांत के अस्तित्व से !
(22 अक्टूबर, 2010)

पेड़

पेड़,
तुम पेड़ उसी वक्त तक
पेड़ हो,
जब तक ये हरे पत्ते
हिल रहे हैं
तुम्हारी टहनियों पर।
पेड़,
तुम्हारा हरापन उसी वक्त तक है
जब तक ये पत्ते सही सलामत हैं
तुम्हारी टहनियों पर।
पेड़,
तुम उसी वक्त तक पेड़ हो,
जब तक ये पत्ते
तुम्हारे साथ हैं
पत्ते झरते ही
पेड़ नहीं ठूँठ कहलाओगे
जीते जी मर जाओगे !

शब्द बोध

पीठ पीछे दिये गये विशेषण
फुसफुसाहटों की बैसाखी पर चढ़कर
पीछा करते हैं
शब्द बेधी बाणों की तरह
कर देते हैं
छिन्न-विछिन्न अंतर्भावनाओं को।
हंसों की शक्ल में
गिद्धों का यह क्रन्दन
बदल रहा है
मेरे संताप को
बारूद में।
बारूद : किसी भी क्षण
विस्फोट कर सकता हैं। ❑

ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान समारोह– 2024 सम्पन्न



30 जून 2024 को रोटरी क्लब, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) में साहित्य चेतना मंच द्वारा वरिष्ठ साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि के 74वें जन्मदिवस के अवसर पर पाँचवाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान समारोह एवं विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। समारोह का शुभारंभ भीम गीत से हुआ, जिसे सुजीत कुमार और अमित तेजी ने प्रस्तुत किया। साहित्य चेतना मंच के उपाध्यक्ष डॉ. दीपक मेवाती ने स्वागत भाषण में मंच का संक्षिप्त परिचय देते हुए कार्यक्रम में उपस्थित सभी आगंतुकों का अभिनंदन किया।

'ओमप्रकाश वाल्मीकि के विचारों की वर्तमान में प्रासंगिकता' विषय पर आयोजित विचार गोष्ठी में मुख्य अतिथि हिन्दी विभाग, किरोड़ीमल कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के प्रो. नामदेव ने कहा कि "ओमप्रकाश वाल्मीकि कभी मध्यमार्गी नहीं रहे। उनके लेखन में साहस, प्रतिरोध और वंचित समाज की पीड़ा की सशक्त अभिव्यक्ति है। उनका साहित्य भोगे हुए यथार्थ का दस्तावेज़ है और उनकी चिंताएँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं।" मुख्य अतिथि प्रो. राजेश पाल ने अपने संबोधन में कहा, "ओमप्रकाश वाल्मीकि का जीवन और साहित्य

संघर्ष व प्रतिरोध का प्रतीक है। उनके लिए सामाजिक व्यवस्था में 'बीच का रास्ता' नहीं था। उनका जीवन और साहित्य सदैव प्रेरणा देता रहेगा।" इस अवसर पर पाँचवाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान 2024 दलित लेखक संघ के अध्यक्ष एवं राजधानी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के हिन्दी विभाग अध्यक्ष प्रो. महेन्द्र सिंह बेनीवाल को प्रदान किया गया। उन्हें साहित्य चेतना मंच के अध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि, उपाध्यक्ष डॉ. दीपक मेवाती, महासचिव श्याम निर्मोही, कोषाध्यक्ष जे.एम. सहदेव 'सोनू', सचिव रमन टाकिया एवं प्रवेश कुमार द्वारा प्रशस्ति पत्र, शॉल, साहित्यिक उपहार और स्मृति चिह्न भेंट कर सम्मानित किया गया।

सम्मान ग्रहण के पश्चात् अपने वक्तव्य में प्रो. बेनीवाल ने कहा, "संसाधनों और मीडिया में दलितों की भागीदारी आज भी सीमित है। ये मुद्दे ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य में प्रमुखता से आए हैं और आज भी प्रासंगिक हैं। दलित विद्यार्थियों के साथ आज भी स्कूलों में वैसा ही व्यवहार देखने को मिलता है, जैसा वाल्मीकि जी ने अपने जीवन में झेला। गाँवों में जातिगत आतंक अब भी मौजूद है।" विशिष्ट वक्ता वरिष्ठ दलित साहित्यकार डॉ. एन. सिंह ने कहा, "जो दलित लेखक ब्राह्मणवादी सोच का समर्थन करता है, वह दलित साहित्यकार नहीं हो सकता। तमाम पीड़ाएँ सहने के बावजूद व्यवहार में तिक्तता न आने की सीख हमें ओमप्रकाश वाल्मीकि से लेनी चाहिए।"

ओमप्रकाश वाल्मीकि के परम मित्र साहित्यकार शिवबाबू मिश्र ने उनके साथ बिताए गए संस्मरण साझा करते हुए कहा, "वाल्मीकि जी के जीवन और साहित्य में सत्य की पक्षधरता केंद्रीय रही। सच कहने का उनमें अद्‌भुत साहस था। उन्हें कई अवसरों पर देहरादून में उपेक्षा का सामना करना पड़ा, फिर भी वे अडिग रहे। वे विश्व-मानवता के लेखक थे।" कार्यक्रम में अतिथियों द्वारा साहित्य चेतना मंच की रचनात्मक पहल 'घर-घर ओमप्रकाश वाल्मीकि' स्मारिका (2024) के तृतीय संस्करण, श्याम निर्मोही के द्वितीय कविता संग्रह 'मन के कबीर' तथा डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि के कविता संग्रह 'उजाले की ओर' का विमोचन किया गया।

इसके अतिरिक्त भारत भूषण, डॉ. सुभाष प्रज्ञ, जे.पी. सिंह, धनपाल तेश्वर, महेश कुनवाल सहित अनेक वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किए और ओमप्रकाश वाल्मीकि को श्रद्धांजलि अर्पित की। समारोह में सामाजिक कार्यकर्ता रमेश भंगी, अंकिता अग्रवाल, ओ.पी. शुक्ला, प्रो. धर्मवीर, प्रो. अनिल कुमार, डॉ. प्रवीन कुमार, गौरव चौहान, प्रीति, राहुल वाल्मीकि सहित अनेक गणमान्य जन उपस्थित रहे। सभी अतिथियों का साहित्यिक उपहार भेंट कर अभिनंदन किया गया। समारोह की अध्यक्षता करते हुए मदनपाल तेश्वर ने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा, "सभी वक्ताओं ने ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य को गहराई से पढ़ा है। उनके विचारों का सार यही है कि वाल्मीकि जी ने दलित साहित्य के माध्यम से समाज में चेतना जागृत करने का ऐतिहासिक कार्य किया, जिसे घर-घर तक पहुँचाया जाना चाहिए।"

अंत में साहित्य चेतना मंच के अध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि ने सभी आगंतुकों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए अपने नवीन कविता संग्रह 'उजाले की ओर' से 'ओमप्रकाश' कविता का पाठ किया। कार्यक्रम का कुशल मंच संचालन साचेम के महासचिव श्याम निर्मोही ने किया। ❑

प्रस्तुति : जे.एम. सहदेव 'सोनू'

ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान समारोह– 2025 सम्पन्न



साहित्य चेतना मंच द्वारा आयोजित छठा ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान समारोह एवं विचार गोष्ठी का आयोजन 16 नवम्बर 2025 को रोटरी क्लब, बीकानेर (राजस्थान) में गरिमामय वातावरण में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम का उद्देश्य ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्यिक अवदान और दलित चेतना को रेखांकित करना रहा। कार्यक्रम का शुभारम्भ साहित्य चेतना मंच के संरक्षक मदनपाल तेश्वर के स्वागत भाषण से हुआ। मंच के अध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि ने मंच का परिचय एवं उद्देश्य प्रस्ताव प्रस्तुत किया। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि के साहित्य में संघर्ष और यथार्थ की चेतना' विषय पर मुख्य अतिथि बुलाकी शर्मा ने कहा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि हिन्दी साहित्य में चेतना के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने इसे बीकानेर में दलित विमर्श की चेतना का महत्वपूर्ण आगाज़ बताया।

मुख्य वक्ता प्रो. महेन्द्र सिंह बेनीवाल ने कहा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि का जीवन और साहित्य संघर्ष व प्रतिरोध का प्रतीक है। उनके लिए सामाजिक अन्याय के साथ कोई समझौता संभव नहीं था, और उनका साहित्य सदैव प्रेरणास्रोत बना रहेगा। इस अवसर पर छठा ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान 2025 से जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो. किशोरीलाल रैगर 'पथिक' को सम्मानित किया गया। उन्हें प्रशस्ति–पत्र, शॉल, साहित्यिक उपहार एवं स्मृति–चिह्न प्रदान किया गया। सम्मान प्रदान करने वालों में मंच के संरक्षक मदनपाल तेश्वर, प्रो. राजेश पाल, अध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि, उपाध्यक्ष डॉ. दीपक मेवाती, महासचिव श्याम निर्मोही, सह–सचिव अनिल बिडलान, प्रकाश पुंज फाउंडेशन के डॉ. सुभाष प्रज्ञ, नेमीचंद बारासा एवं पूनमचंद कंडारा शामिल रहे।

प्रो. किशोरीलाल रैगर ने अपने वक्तव्य में कहा कि ओमप्रकाश वाल्मीकि का साहित्य समतामूलक समाज का आह्वान करता है और उनका लेखन एक सम्पूर्ण सामाजिक आंदोलन था। विशिष्ट वक्ता सरिता भारत ने वाल्मीकि साहित्य को हिन्दी साहित्य का मील का पत्थर बताया। साहित्यकार जयप्रकाश वाल्मीकि ने ओमप्रकाश वाल्मीकि के साथ बिताए स्मरणीय क्षण साझा किए तथा उनकी चर्चित कहानी 'शवयात्रा' के कई अनछुए पक्षों पर प्रकाश डाला। विशिष्ट वक्ता प्रो. नामदेव ने कहा कि वाल्मीकि जी ने लेखन के साथ–साथ अभिनय के माध्यम से भी जातिगत अन्याय को उजागर किया। कार्यक्रम में साहित्य चेतना मंच की रचनात्मक प्रस्तुति "घर–घर ओमप्रकाश वाल्मीकि" स्मारिका 2024 का वितरण किया गया। इस अवसर पर सरिता भारत के नवीन कविता संग्रह 'दहलीज लांघती औरतें' का भी

विमोचन किया गया।

अध्यक्षीय वक्तव्य में मंच के संरक्षक प्रो. राजेश पाल ने कहा कि साहित्य तब तक अधूरा है, जब तक वह समाज के निचले पायदान की पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं बनता। वाल्मीकि जी का साहित्य बौद्धिक और सामाजिक चेतना का साहित्य है। कार्यक्रम में अनेक साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों एवं गणमान्य अतिथियों की उपस्थिति रही।



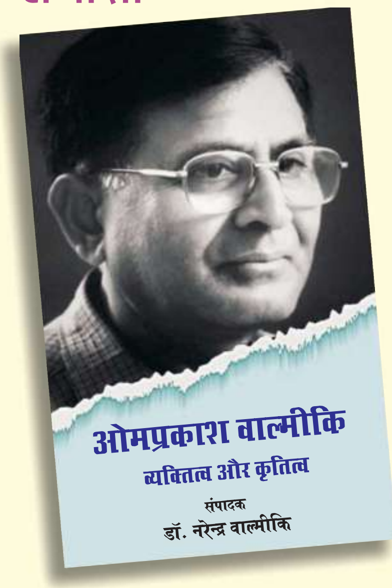
मंच संचालन डॉ. दीपक मेवाती एवं डॉ. सुभाष प्रज्ञ ने कुशलतापूर्वक किया। अंत में मंच के महासचिव श्याम निर्मोही ने सभी आगंतुकों के प्रति आभार व्यक्त किया। ❑

प्रस्तुति : अनिल बिड़लान



साहित्य चेतना मंच, सहारनपुर की कार्यकारिणी

पुस्तक समीक्षा



ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्तित्व और कृतित्व
संपादक : डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि
प्रकाशक : कलमकार पब्लिशर्स प्रा.लि.,
नई दिल्ली।
पृष्ठ संख्या : 344
मूल्य : 500/-
प्रथम संस्करण : 2022
समीक्षक : डॉ. चैनसिंह मीना, सहायक प्रोफेसर
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

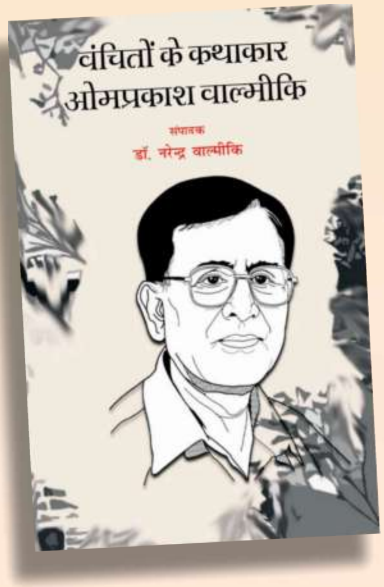
ओमप्रकाश वाल्मीकि का व्यक्तित्व और कृतित्व किसी औपचारिक परिचय का मोहताज नहीं है। उनका साहित्य केवल पाठकीय चेतना के विस्तार तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने समकालीन रचनाकारों की रचनाधर्मिता के लिए अमानवीय शोषण से मुक्ति का एक सशक्त वैचारिक मार्ग भी प्रशस्त किया। दलित साहित्य की स्थापना और विकास के संदर्भ में विविध साहित्यिक मंचों तथा गोष्ठियों में जिस संवादधर्मिता की आवश्यकता थी, वह ओमप्रकाश वाल्मीकि के व्यक्तित्व में सहज रूप से विद्यमान थी। यह संवाद सत्ता, साहित्य, धर्म और संस्कृति की गलबहियों से संचालित तंत्र के विरुद्ध एक खुली चुनौती थी।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे व्यक्तित्व को केवल साहित्य की परिधि में सीमित नहीं किया जा सकता। उन्होंने साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त एकाधिकार, वर्चस्व और जड़ पूर्वग्रहों को उजागर किया। उनका लेखन इस प्रश्न से टकराता है कि आखिर कब तक नए युग को परंपरागत संस्कारों, रूढ़ सौंदर्यशास्त्र और पूर्वनिर्धारित मानकों की लीक पर रेखांकित किया जाता रहेगा। जिस सामाजिक यथार्थ को वे देख रहे थे, उसे किस भाषा और किस संतुलन के साथ अभिव्यक्त करना है- यह कला उन्हें भली-भाँति आती थी। उत्पीड़न से उपजे आक्रोश को उन्होंने संयत, वैचारिक और सशक्त भाषा में प्रस्तुत किया, जो उनके लेखन को असाधारण बनाता है। दलित साहित्य और अपनी रचना-प्रक्रिया पर लगाए गए आरोपों का उन्होंने निर्भीकता से खंडन किया तथा अपनी मौलिक वैचारिक स्थापनाएँ स्पष्ट रूप से सामने रखीं। साहित्य में इस प्रकार के साहसिक हस्तक्षेप विरले ही देखने को मिलते हैं। आत्मकथा 'जूठन' दलित साहित्य में एक मील का पत्थर मानी जाती है, जिसमें जातीय अपमान, आर्थिक-सामाजिक शोषण और मानसिक उत्पीड़न के वे पक्ष सामने आते हैं जो लंबे समय तक अनकहे रहे। दलित अस्मिता के साथ-साथ उनके लेखन में व्यापक मानवीय सरोकार और गहरी सामाजिक चिंताएँ भी निहित हैं।

डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि द्वारा संपादित पुस्तक 'ओमप्रकाश वाल्मीकि : व्यक्तित्व और कृतित्व' इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि इसमें प्रतिष्ठित आलोचकों और विद्वानों द्वारा ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवन और साहित्य के विविध आयामों का गहन, विश्लेषणात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

यह पुस्तक न केवल उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को सही संदर्भों में समझने में सहायक है, बल्कि दलित साहित्य की वैचारिक दिशा को भी और अधिक स्पष्ट करती है। पुस्तक में संकलित कुछ लेखक ऐसे हैं, जिन्हें ओमप्रकाश वाल्मीकि का सान्निध्य प्राप्त रहा है; उनके संस्मरण और विचार इस कृति को शोधार्थियों और नई पीढ़ी के पाठकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी बनाते हैं। निःस्संदेह, ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे सशक्त हस्ताक्षर का न होना हिन्दी साहित्य के लिए एक बड़ी क्षति है, किंतु उनका साहित्यिक अवदान दलित समाज, उससे जुड़े रचनाकारों और आत्मालोचन का साहस रखने वाले मुख्यधारा के लेखकों के लिए भी निरंतर प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा। विश्वास है कि पाठक वर्ग इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक को उसका उचित सम्मान प्रदान करेगा। ❑

पुस्तक समीक्षा



'वंचितों के कथाकार : ओमप्रकाश वाल्मीकि' हिन्दी दलित साहित्य के सशक्त कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि के कथा-साहित्य का सम्यक, गम्भीर और वस्तुनिष्ठ अध्ययन प्रस्तुत करने वाली महत्त्वपूर्ण कृति है। यह पुस्तक न केवल उनके रचना-संसार को समझने का अवसर प्रदान करती है, बल्कि दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, सामाजिक सरोकारों और प्रतिरोधात्मक चेतना को भी अकादमिक दृष्टि से रेखांकित करती है।

पुस्तक में संकलित आलेख ओमप्रकाश वाल्मीकि की कथाओं को सामाजिक यथार्थ के व्यापक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करते हैं। जातिगत उत्पीड़न, सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक शोषण और मानवीय अपमान जैसे मुद्दे उनकी कथाओं के केंद्रीय सरोकार हैं, जिन्हें लेखकों ने आलोचनात्मक विवेक के साथ विवेचित किया है।

वाल्मीकि की कथाएँ केवल पीड़ा का बयान नहीं हैं, बल्कि वे दलित समाज के आत्मसम्मान, संघर्षशील चेतना और परिवर्तनकामी दृष्टि को भी अभिव्यक्त करती हैं- इस तथ्य को पुस्तक के आलेख स्पष्ट रूप से स्थापित करते हैं। संपादक डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि का संपादकीय हस्तक्षेप इस कृति की विशेष उपलब्धि है। उन्होंने आलेखों का चयन एवं संयोजन इस प्रकार किया है कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कथा-दृष्टि, अनुभवजन्य सच्चाई और साहित्यिक प्रतिबद्धता क्रमबद्ध एवं संतुलित रूप में सामने आती है। पुस्तक में शामिल आलेख उनके कथा-शिल्प, भाषा, प्रतीक-विधान और यथार्थवादी अभिव्यक्ति की भी सूक्ष्म पड़ताल करते हैं, जिससे पाठक को उनके साहित्यिक अवदान की समग्र समझ विकसित होती है।

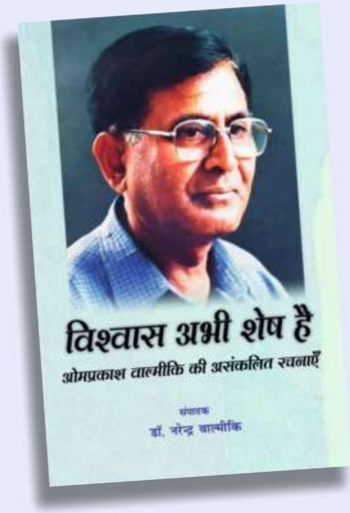
अकादमिक दृष्टि से यह पुस्तक इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह ओमप्रकाश वाल्मीकि को केवल एक दलित कथाकार के रूप में नहीं, बल्कि हिन्दी कथा-साहित्य की मुख्यधारा में एक विशिष्ट और वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध लेखक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। साथ ही, यह कृति दलित कथा-साहित्य के अध्ययन, शोध और शिक्षण के लिए एक प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथ के रूप में उपयोगी सिद्ध होती है।

निष्कर्षत:, 'वंचितों के कथाकार : ओमप्रकाश वाल्मीकि' एक सुविचारित, वैचारिक रूप से सुदृढ़ और अकादमिक मानकों पर खरी उतरने वाली पुस्तक है। डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि का संपादकीय विवेक, गहन अध्ययनशीलता और सामाजिक -साहित्यिक प्रतिबद्धता इस कृति को न केवल आलोचना-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है, बल्कि दलित साहित्य के गंभीर अध्येताओं और शोधार्थियों के लिए भी इसे अनिवार्य पाठ बनाती है। ❑

वंचितों के कथाकार : ओमप्रकाश वाल्मीकि
संपादक : डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि
प्रकाशक : कलमकार पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
पृष्ठ संख्या : 376
मूल्य : 500/-
प्रथम संस्करण : 2023

समीक्षक : डॉ. रमन टाकिया
सचिव : साहित्य चेतना मंच

पुस्तक समीक्षा



'विश्वास अभी शेष है....' हिन्दी दलित साहित्य के आधार स्तम्भ ओमप्रकाश वाल्मीकि की असंकलित रचनाओं का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और बहुप्रतीक्षित संकलन है। यह पुस्तक वाल्मीकि जी के रचनात्मक संसार के उन पक्षों को सामने लाती है, जो अब तक पुस्तकों में स्थान नहीं पा सके थे, जबकि वे उनकी वैचारिक दृढ़ता और साहित्यिक प्रतिबद्धता को पूरी शक्ति से अभिव्यक्त करते हैं।

इस संग्रह में वर्ष 1982 से 2013 तक देश की विभिन्न पत्र पत्रिकाओं और साझा काव्य संकलनों में प्रकाशित रचनाओं को संकलित किया गया है। बाईस कविताएँ और तीन कहानियाँ पहली बार पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध कराई गई हैं। इसके अतिरिक्त लेख, भाषण, अतिथि संपादकीय, पुस्तक समीक्षाएँ, साक्षात्कार और पत्र इस पुस्तक को केवल रचनात्मक नहीं, बल्कि वैचारिक और दस्तावेज़ी महत्त्व भी प्रदान करते हैं। विशेष उल्लेखनीय है शरण कुमार लिंबाले से लिया गया साक्षात्कार और वाल्मीकि जी का अंतिम साक्षात्कार, जो दलित साहित्य की विकास यात्रा को भीतर से समझने का अवसर देते हैं।

डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि का संपादन गहन शोध, धैर्य और सामूहिक प्रयासों का परिणाम है। दुर्लभ पत्र पत्रिकाओं और पुराने संकलनों से सामग्री जुटाकर उन्होंने एक जटिल और चुनौतीपूर्ण कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है। इस प्रक्रिया में साहित्यिक साथियों और पत्रिका-संपादकों का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा है, जो इस पुस्तक को एक साझा सांस्कृतिक प्रयास का रूप देता है।

'विश्वास अभी शेष है...' न केवल ओमप्रकाश वाल्मीकि के पाठकों के लिए एक मूल्यवान उपहार है, बल्कि शोधार्थियों और दलित साहित्य के अध्येताओं के लिए भी एक संदर्भग्रंथ के रूप में उपयोगी सिद्ध होगी। यह पुस्तक प्रमाणित करती है कि वाल्मीकि जी का साहित्य आज भी समकालीन है और भविष्य की साहित्यिक चेतना को दिशा देने में सक्षम है। ❑

विश्वास अभी शेष है ...

(ओमप्रकाश वाल्मीकि की असंकलित रचनाएँ)

संपादक : डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि

प्रकाशक : कलमकार पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

पृष्ठ संख्या : 312, **मूल्य :** 400/-

प्रथम संस्करण : 2024

समीक्षक : डॉ. सुभाष प्रज्ञ, बीकानेर (राजस्थान)

-: ओमप्रकाश वाल्मीकि का रचना संसार :-

-: कविता संग्रह :-

1. सदियों का संताप, प्रथम संस्करण–1989, फिलहाल प्रकाशन, 24/49, धर्मपुर, देहरादून (उत्तराखंड) / दूसरा संस्करण– 2008, गौतम बुक सेंटर, चन्दन सदन, सी–263, गली नं. 09, हरदेव पुरी, शाहदरा (दिल्ली)
2. बस्स ! बहुत हो चुका (1997), वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली।
3. अब और नहीं (2009), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दल्ली।
4. शब्द झूठ नहीं बोलते (2012), अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, 21–ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली। फोन : 011–23281655

-: कहानी संग्रह :-

1. सलाम (2000), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
2. घुसपैठिए (2003), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
3. छतरी (2013), भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टिट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली। मो. : 9350536020
4. अम्मा एंड अदर स्टोरीज (2008), मनोहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 4753/23, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली।
5. दस प्रतिनिधि कहानियाँ (2013), किताबघर प्रकाशन, 24, 4855, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली। मो. 9582117777

-: आत्मकथा :-

जूठन (दो खंड में), खंड–एक (1997), दूसरा खंड (2015), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जी–17, जगतपुरी, दिल्ली – 110051

-: आलोचना :-

1. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (2001), राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली।
2. मुख्यधारा और दलित साहित्य (2009), सामयिक प्रकाशन, 3320/21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली, मो. 7065507086
3. दलित साहित्य : अनुभव, संघर्ष और यथार्थ (2013), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

-: सामाजिक अध्ययन :-

सफाई देवता 2008 (वाल्मीकि समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि), राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

-: नाटक :-

दो चेहरे (2012), गौतम बुक सेंटर, शाहदरा (दिल्ली), मो. : 9810173667

-: शोध :-

हिंदी दलित कविता और मराठी दलित कविता का तुलनात्मक अध्ययन और दलित आंदोलन पर उनका प्रभाव (2015), प्रकाशक : सचिव, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान राष्ट्रपति निवास, शिमला (हिमाचल प्रदेश), फोन : 0177-2830006, 2831375



> "साहित्यकार का काम है कि जो समस्या है उसे लोगों तक पहुँचाना और सही रूप में प्रस्तुत करना। अगर आम आदमी समझ नहीं रहा है तो साहित्यकार की जिम्मेदारी है कि वो उसको जागृत करे और उसके लिए बदलाव लाने के रास्तों में कहीं अपने आपको डालें।"
>
> **- ओमप्रकाश वाल्मीकि**

चित्र विथिका











चित्र विथिका

















चित्र विथिका


साहित्य चेतना मंच
ओमप्रकाश वाल्मीकि स्मृति साहित्य सम्मान : 2025
राजसूर्य प्रकाशन
(प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)
घर-घर ओमप्रकाश वाल्मीकि

-: साहित्य चेतना मंच संरक्षक मण्डल :-



डॉ. एन. सिंह
वरिष्ठ साहित्यकार
सहारनपुर (उ.प्र.)



प्रो. राजेश पाल
वरिष्ठ साहित्यकार
देहरादून (उत्तराखण्ड)



श्री मदनपाल तेश्वर
लेखक एवं समाज सेवी
सहारनपुर (उ.प्र.)

साहित्य चेतना मंच (साचेम) कार्यकारिणी



डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि (अध्यक्ष)

जन्म: 03 फरवरी, 1992
प्रकाशित कृतियाँ: जारी रहेगा प्रतिरोध, उजाले की ओर (कविता संग्रह), प्रतियोगी परीक्षाओं में आंबेडकर, व्यवस्था पर चोट (काव्य संकलन), कब तक मारे जाओगे (जाति-व्यवस्था के घिनौने रूप को ढोने वाले समुदाय पर केन्द्रित काव्य-संकलन), सूरजपाल चौहान की प्रतिनिधि कविताएँ, ओमप्रकाश वाल्मीकि: व्यक्तित्व और कृतित्व, वंचितों के कथाकार: ओमप्रकाश वाल्मीकि, राजेश पाल की प्रतिनिधि कविताएँ, विश्वास अभी शेष है... (ओमप्रकाश वाल्मीकि की असंकलित रचनाएँ) **पता:** ग्राम जेहरा, जिला सहारनपुर (उ.प्र.), **मो.** 9720866612



डॉ. दीपक मेवाती (उपाध्यक्ष)

जन्म: 30 अगस्त, 1988, **प्रकाशित कृतियाँ:** सम्मान चाहिए, बड़ा बेचैन सा हूँ मैं (काव्य संग्रह) सम्पादन - काव्य संगम, काव्य सुरभि, जयप्रकाश वाल्मीकि की प्रतिनिधि कविताएँ। **संप्रति:** शिक्षण और स्वतंत्र लेखन। **पता:** जखोपुर, वार्ड नम्बर 9, तहसील सोहना, जिला गुरुग्राम (हरियाणा), **मो.** 9718385204, **ईमेल :** dipakluhera@gmail.com



श्री श्याम निर्मोही (महासचिव)

जन्म: 20 जुलाई, 1978, **प्रकाशित कृतियाँ:** रेत पर कश्तियाँ, मन के कबीर (कविता संग्रह), सुलगते शब्द (दलित काव्य-संकलन) सूरजपाल चौहान की प्रतिनिधि कहानियाँ, मेरे हिस्से के ओमप्रकाश वाल्मीकि (संस्मरण)। **सम्प्रति :** अध्यापन और स्वतंत्र लेखन। **पता :** नवल-पुंज, जवाहर स्कूल रोड़, भीनासर, बीकानेर (राजस्थान), **मो.** 8233209330



श्री रमन टाकिया (सचिव)

जन्म: 18 अगस्त, 1988, **प्रकाशित कृति :** हिंदी दलित कविता : आंदोलन एवं जागृति की पक्षधर। **संप्रति :** पीएच.डी शोधार्थी। **पता :** हाउस न. 581, टी-हट्स, रोहिणी सेक्टर 3, दिल्ली, **मो.** 9315337171 **ईमेल :** ramantakiya135@gmail.com



श्री अनिल बिड़लान (सह-सचिव)

जन्म: 05 फरवरी, 1980, **प्रकाशित कृतियाँ :** अंतिम प्रहार (कविता संग्रह), युग चेतना (काव्य संकलन), **संप्रति :** अध्यापन और स्वतंत्र लेखन। **पता :** 21, ब्लॉक - I, सरस्वती एनक्लेव, खेड़ी मारकण्डा, कुरुक्षेत्र (हरियाणा), **मो.** 8950508586



श्री जे.एम. सहदेव 'सोनू' (कोषाध्यक्ष)

जन्म: 09 जुलाई, 1982, **प्रकाशित कृति :** खामोश आहटें (काव्य संकलन) **सम्प्रति :** अध्यापन एवं स्वतंत्र लेखन। **पता:** वार्ड नं. 9, हरि वाटिका कॉलोनी, दिनेशपुर गदरपुर, जनपद ऊधम सिंह नगर (उत्तराखंड), **मो.** 9411165975

साहित्य चेतना मंच की मुहिम — साहित्य जन-जन तक





रोशनी के मायने
(कविता संग्रह)
– प्रकाशक –
कलमकार पब्लिशर्स
नई दिल्ली
मूल्य : ₹250/-

रचनाकार
मोहनलाल सोनल 'मनहंस'
मो. 9929053911





उपाधियाँ लौटाती हूँ
(कविता संग्रह)
– प्रकाशक –
न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन
दिल्ली
मूल्य : ₹250/-

रचनाकार
डॉ. माया गोला
मो. 9627948354





भूख का व्याकरण
(कविता संग्रह)
– प्रकाशक –
रश्मि प्रकाशन
लखनऊ (उ.प्र.)
मूल्य : ₹200/-

रचनाकार
कश्मीर सिंह
मो. 7973972845





रेत पर कश्तियाँ
(कविता संग्रह)
– प्रकाशक –
कलमकार पब्लिशर्स
नई दिल्ली
मूल्य : ₹250/-

रचनाकार
श्याम निर्मोही
मो. 8233209330





अंतिम प्रहार
(कविता संग्रह)
– प्रकाशक –
कलमकार पब्लिशर्स
नई दिल्ली
मूल्य : ₹225/-

रचनाकार
अनिल बिड़लान
मो. 8950508586





लौट आयेगा जंगल
(कविता संग्रह)
– प्रकाशक –
न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन
दिल्ली
मूल्य : ₹250/-

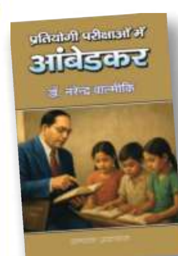
रचनाकार
लव कुमार 'लव'
मो. 7009417929





तपस्वी
(उपन्यास)
– प्रकाशक –
देवसाक्षी पब्लिकेशन
रावतसर (राजस्थान)
मूल्य : ₹350/-

रचनाकार
सुनील पंवार
मो. 9001827776





प्रतियोगी परीक्षाओं में आंबेडकर
(प्रश्नकोश)
– प्रकाशक –
सम्यक प्रकाशन
दिल्ली
मूल्य : ₹80/-

रचनाकार
डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि
मो. 9720866612

शिक्षा समाज के उद्धार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। – डॉ. नरेन्द्र वाल्मीकि

साहित्य चेतना मंच
साहित्य जन-जन तक

साहित्य चेतना मंच (साचेम)
नवीन नगर, सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) 247001
मो. 9720866612, 8233209330, 9315337171, 9718385204, 9411165975
ई-मेल : sahityachetnamanch@gmail.com